गणजननायक, परदुःखभंजक, प्रजावत्सल

शकारि

सम्राट् वीर विक्रमादित्य

लेखक—जी. डी. जोशी.

प्रकाशक

हिमालयन पबलिकेशन्स, बम्बई.

मूल्य रु. ३)　　　　राजसंस्करण रु. १०)

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

—भर्तृहरि

अर्थात्

जिसने इस संसार में जन्म लेकर अपने देश जाति व
वंशकी उन्नति नहीं की उसका जन्म निरर्थक है।
इस लिये प्रत्येक व्यक्ति को जन्म लेकर देश, जाति
तथा वंश का उद्धार करना चाहिये अन्यथा इस
परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं
जन्मता और कौन नहीं मरता।
भावार्थ यह है की वीर विक्रम की
तरह प्रत्येक मनुष्य को मानव
वंश की उन्नति के लिये
यत्नशील रहना चाहिये।

卐

वह अमर आत्मा

सम्राट् वीर विक्रम प्रजा का सच्चा हितैषी व सेवक था। सम्राट् होते हुये भी उसने सदा जनहित कार्य किये। यही कारण है कि उसका नाम इतिहास में अमर हो गया है। उसका जीवन हमें परोपकार तथा देशभक्ति की क्रियात्मक शिक्षा देता है। ऐसे वीर पुरुष का जितना भी जीवन चरित्र लिखा जाय थोड़ा है।

—गजाधर सोमाणी

विक्रम-स्मृति-महोत्सव

इस वर्ष चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से तृतीया तक, लगातार, बम्बई में मारवाड़ी सम्मेलनद्वारा आयोजित "विक्रमद्विसहस्राब्दि महोत्सव कमिटी" की ओर से सम्राट् विक्रम का दो हजारवाँ स्मृतिदिवस बड़ी धूमधाम और सजधज से मनाया गया। प्रत्येक आर्यसभ्यताभिमानी हिन्दू और हिन्दुस्तानियों के लिये यह बड़े गौरव की बात है। उक्त कमीटी की ओर से इस कार्य को सानन्द सम्पन्न करने के निमित्त कई मास से तयारियां की जा रही थीं और कई सब-कमीटियां नियुक्त की गयी थीं। माधवबाग मन्दिर के अन्दर इस कार्य के निमित्त एक विशाल शामियाना तानकर विक्रमनगर का निर्माण किया गया था और विक्रम के नवरत्नों के नाम पर उस नगर के ९ द्वार बनाये गये थे।

प्रथम दिन एक बृहत् विक्रम कानफरेन्स का आयोजन किया गया था। इस कानफरेन्स के सभापति बम्बई के प्रसिद्ध समाजसेवी तथा इतिहासकार श्रीयुत किशनलाल जी झावेरी, रिटायर्ड जज, महोदय थे। आरंभ में स्वागतगान के पश्चात् नगर के कई प्रमुख व्यक्तियों और विद्वानों ने सम्राट् वीर विक्रम के जीवन पर भाषण दिये और अपनी २ श्रद्धांजलि अर्पण की। सभामंडप खचाखच भरा हुआ था।

दूसरे तथा तीसरे दिन विराट हिन्दी कवि-सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन के सभापति हिन्दी के प्रमुख विद्वान और कवि पं. रामनरेशजी तृपाठी थे। लगभग ८० कवियोंने अपनी अपनी कविताओंका पाठ किया। बम्बई के नागरिकों ने कवियों को पुरष्कृत करने में विक्रम की ही तरह अपनी दानशीलता का परिचय दिया। सब मिलाकर एक बड़ी पुष्कल धनराशि कवियों को पुरष्काररूप में दी गयी।

विक्रम-महोत्सव-कमीटी के सदस्यों ने इस उत्सव को उत्साह के साथ सम्पन्न करने में जो कष्ट उठाया है, वह चिरस्मरणीय है। उनके कष्ट व उत्साह को देखते हुये मैं अपनी यह पुस्तक उक्त कमीटी के सदस्यों को सादर समर्पण करता हूं। आशा है कि वे मेरी इस तुच्छ भेंट को सहर्ष स्वीकार करेंगे।

—लेखक.

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठ

२००० वर्ष पूर्वकालीन अवन्तिकाधीश सम्राट् वीर विक्रमादित्य

" यस्याष्टादश योजनानि कटके पादातिकोटित्रयम् ।
सोऽयं विक्रमभूपतिर्विजयते न्यायो धरित्रीतले ॥"

वर्तमान अवन्तिकाधीश

ग्वालियर नरेश।

हिज हाईनेस महाराजा साहिब श्रीमान् जियाजीराव शिंदे
अलीजा बहादुर ग्वालियर नरेश। आप सम्राट् वीर
विक्रम की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के
निमित्त "विक्रम यूनिवर्सिटी" तथा
"विक्रम-स्मारक" का निर्माण
कर रहे हैं।

विक्रम-द्विसहस्राब्दि-महोत्सव-कमिटी के

स्वागताध्यक्ष सेठ रामदेवजी पोद्दार तथा सदस्योंकी सेवा में सादर समर्पित

पदाधिकारी

श्रीमान् सेठ	रामदेवजी पोद्दार	प्रधान
,, ,,	राजा नारायणलालजी पित्ती	उपप्रधान
,, ,,	तनसुखरायजी कारुंडिया	,,
,, बा.	जगमोहन प्रसादजी गोयनका	,,
,, पं.	माधवप्रसादजी शर्मा सॉलिसिटर	,,
,,	मेसर्स नारायणलाल बंशीलाल	कोषाध्यक्ष
,, बा.	गजाधरजी सोमाणी	मंत्री
,, सेठ	घनश्यामदासजी पोद्दार	,,
,, बा.	जयन्तीलालजी रुईया	उपमंत्री
,, पं.	सीतारामजी मिश्र	,,
,, सेठ	जयदेवप्रसादजी सिंहानियां	प्रचारमंत्री
,, पं.	श्रीनिधिजी द्विवेदी	कवि-सम्मेलन मंत्री
,, सेठ	शिवचंद्रजी गुप्त	स्वयंसेवक मंत्री

सदस्यगण

डॉ झाबरमलजी मिश्र	बा. कृष्णगोपालजी माहेश्वरी
सेठ मदनलालजी अग्रवाल	,, पशुपतिनाथजी कारुंडिया
,, रामनाथजी पोद्दार	सेठ सागरमलजी मोदी
,, रामेश्वरप्रसादजी साबू	पं. मुरलीधरजी शर्मा
पं. महावीर प्रसादजी दाधीच	बा. परमेश्वरलालजी बगड़का
,, प्रभाशंकरजी शुक्ल	सेठ वसन्तलालजी धेलिया
सेठ जमुनाप्रसादजी पचोरिया	,, बेगराजजी गुप्त
,, भवानीदासजी बिनानी	पं. रामप्रतापजी शुक्ल

दो शब्द

सम्राट विक्रमादित्य महान् द्वारा संचालित विक्रम-शताब्दि आज दो हजार वर्ष को पार कर चुकी है। इस समय उनका गौरवपूर्ण यश भारतभर में चर्चा का विषय बन रहा है। संसार के कोने कोने से श्रद्धाञ्जलियाँ समर्पित की जा रही हैं। ठीक इसी अवसरपर श्री. जी. डी. जोशी ने अपना ग्रन्थ "सम्राट् वीर विक्रमादित्य" हिन्दी साहित्य के समक्ष प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ अपनी दिशा में एक अप्रतिम रचना है। इस का महत्व सामयिकता के कारण और भी बढ़ गया है।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इतिहासवेत्ताओं का पारस्परिक मतभेद है। लेखक ने इस गम्भीर एवं विवादास्पद विषयपर अनुसन्धान और विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। उस के तर्क युक्तियुक्त और प्रामाणिक हैं।

भारत की महान् विभूति सम्राट विक्रमादित्यपर इस प्रकार के एक नहीं अनेक ग्रन्थों की आवश्यकता है। श्री जोशी का यह अभूतपूर्व प्रयास अन्य विद्वानों को इस ओर पग बढ़ाने का इंगित ही नहीं करता प्रत्युत हिन्दी साहित्य में एक अनुकरणीय-कार्य का आदर्श स्थापित करता है।

मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि भारत के स्वर्णिमअतीत के पुजारी और इतिहास-प्रेमी पाठक इस सुन्दर रचना का उचित मूल्य आँकेंगे। मैं श्री जोशी को इस स्तुत्य-कार्य के लिए अनेकशः बधाई देता हूँ।

—रामदेव पोदार

श्रीमान् सेठ रामदेवजी पोद्दार

विक्रम द्विसहस्राब्दि महोत्सव कमिटी के स्वागताध्यक्ष, प्रमुख व्यवसायी तथा बम्बई के सार्वजनिक जीवन के आधारस्तम्भ.
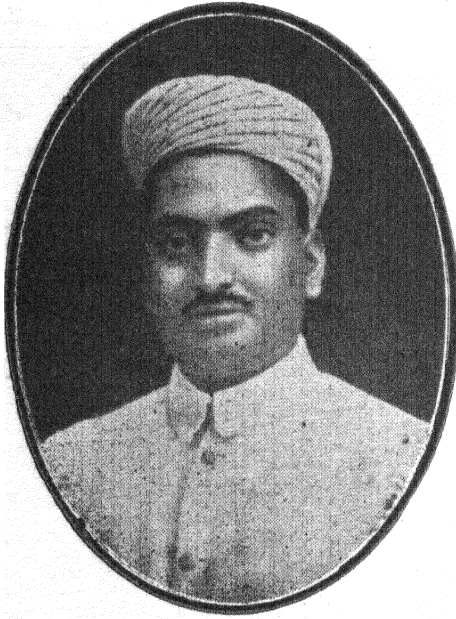
राजा बहादुर
सेठ **नारायणलालजी पित्ती**
वि. द्वि. म. क. के उप-प्रधान
तथा मारवाड़ी-सम्मेलन के
इस वर्ष के प्रधान.

श्री. बाबू **गजाधरजी सोमाणी**
वि द्वि. म. क. के संयुक्त-मंत्री
तथा मारवाड़ी-सम्मेलन के
गतवर्ष के प्रधान.
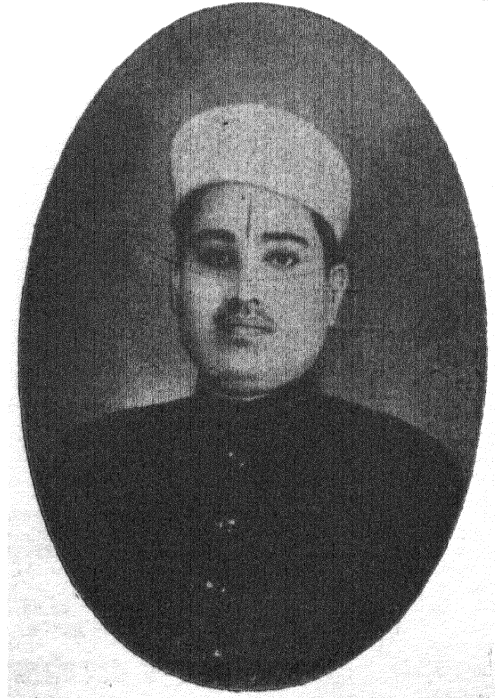
श्रीमान् सेठ
घनश्यामदासजी
पोद्दार
वि. द्वि. म. क. के
संयुक्तमंत्री तथा
मारवाड़ी–सम्मेलन के
ट्रस्टी

श्रीयुत **जी. डी. जोशी**

वि. द्वि. म. क. की
प्रचार–समिति के सदस्य
तथा इस पुस्तक के लेखक.

विक्रम कालीन साम्राज्य का
राज्य विस्तार.
कुरु.
काशी.
आंध्र.
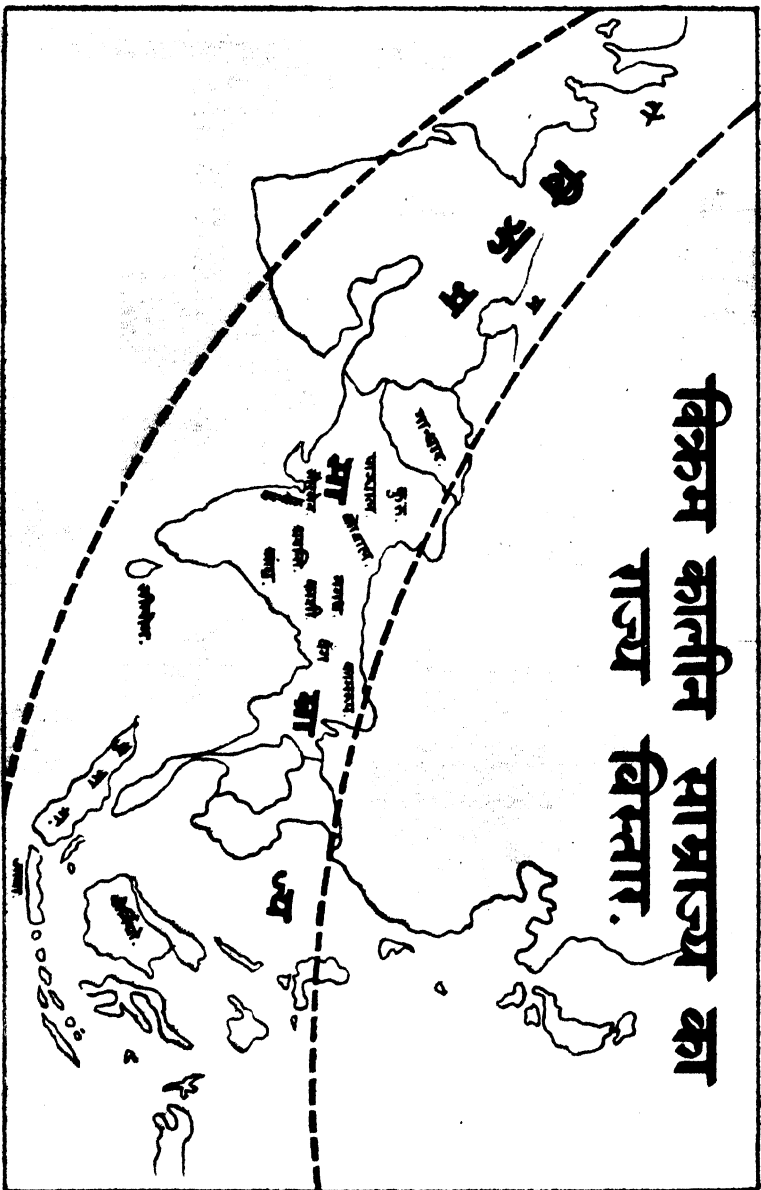
प्रस्तावना.

विक्रम सम्वत् के २००० वें वर्ष में प्रवेश करते ही देश के कोने कोने में यह आवाज सुनाई देने लगी थी कि भारतवर्ष में स्थान स्थान विक्रमद्विसहस्राद्धि महोत्सव मनावे जावै। इस सम्बन्ध में सबसे वड़ा आयोजन ग्वालियर सरकार की ओरसे उज्जैन में किया जा रहा है। सम्राट वीर विक्रम की प्राचीन अवन्तिका अथवा वर्तमान उज्जैन नगरी में उस पराक्रमी सम्राट के चिरस्मरणार्थ "विक्रम विश्वाविद्यालय" तथा विक्रमस्मारक बनाये जाने की आयोजनायें तयार हैं। यह कार्य अत्यन्त स्तुत्य है। इस एतिहासिक स्मारक के लिये ग्वालियर नरेश तथा ग्वालियर सरकार की जितनी प्रसंसा की जाय थोड़ी है। ग्वालियर दरबार का यह उंद्योग अत्यन्त सराहनीय है।

बम्बई नगर में भी मारवाड़ी सम्मेलन की ओर से इस वर्ष के आरंभ में यह कार्य सानन्द आरम्भ होकर समाप्त किया गया। गतवर्ष के आरम्भ ही में मारवाड़ी सम्मेलन के मातहत एक विक्रमद्विसहस्राद्धि कमिटी की स्थापना की गयी थी और उक्त कमिटी ने विक्रमद्विसहस्राद्धि महोत्सव का कार्य सम्पन्न किया। सम्मेलन के गतवर्ष के सभापति बाबू गजाधरजी सोमानी ने आरम्भ में यह भी घोषणा करदी थी कि जो कोई व्यक्ति विक्रम के जीवनपर खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखेगा उसे सम्मेलन की ओरसे पुरष्कार दिया जावेगा। आपकी इस घोषणा, आपके साहित्यप्रेम तथा प्रोत्साहन से ही प्रभावित होकर मैं प्रस्तुत पुस्तक तयार करपाया हूं। यद्यपि मैं यह दावा नहीं करता कि मैं ही उक्त पुरष्कार पाने का हकदार हूं क्योंकि पुरष्कार सम्बन्धी निर्णय करना तो विद्वतवर्ग का काम है। परन्तु इतना मैं अवश्य कहूंगा कि पुस्तक लिखने की प्रेरणा मुझे उक्त पुरष्कार के

लोभ से ही हुयी। बाबू गजाधरजी की व्यक्तिगत सेवा करते हुये मैंने यह पुस्तक तयार की है। इसलिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

इस छोटी सी पुस्तिका को लिखने के लिये, मैनें कई ग्रन्थों का अध्ययन किया है। लगभग ६ दर्जन पुस्तकें देखी है, दर्जनों दन्तकथायें सुनी हैं, कई इतिहासकारों तथा संस्कृत के आचार्यों से परामर्श किया है, मैंने स्वयं उज्जैन तथा अन्य ऐतिहासिक स्थानों का निरीक्षण किया है परन्तु जितना अधिक में विक्रमकालीन घटनाओं की ढूढ़खोज करता हूं उतना ही अधिक मैं भंवरजाल में पड़ता जाता हूं। विक्रमकालीन इतिहास की छानबीन अभीतक मेरेलिये एक भूलभुलैया के मानिन्द है, विशेषकर पाश्चात्य विद्वानों ने इसे और की जटिल बना दिया है। फिर भी मैंने यथार्थ में सचाई को ढूढ़ निकालने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत पुस्तक बहुत दोषपूर्ण है। पुस्तक छपने के बाद मुझे अब स्वयं ग्लानि हो रही है कि ऐसी दोषपूर्ण पुस्तक किस प्रकार विद्वानों के पास भेजी जाय। परन्तु साथ ही मुझे प्रसन्नता है कि यूरोपियन इतिहासकारों ने सम्राट् विक्रम के अस्तित्व को मिटाने तथा उसे कपोलकल्पित बताने का जो प्रयास किया था, मैंने उनके इस दावे को सर्वथा गलत सिद्ध किया है और यह साबित करने का प्रयत्न किया है कि सम्राट वीर विक्रम आज से:२ सहस्त्र वर्ष पूर्व हुआ है और वह भारतवर्षमें ही नहीं, बल्कि विश्व की महान विभूतियों में से एक होगया है।

मैंने जिन २ पुस्तकों से उद्धरण लिये हैं, उनका नाम लिख दिया है और मैं उनके लेखकों का आभारी हूं। यद्यपि पुस्तक चैत्र मास के आरम्भ में निकलनी चाहिये थी, परन्तु प्रैस की दिक्कत के कारण कुछ देर से निकल रही है जिसके लिये मै क्षमाप्रार्थी हूं।

मैं 'लोयलका प्रैस' के मालिक सेठ चिरञ्जीलालजी लोयलका तथा उनके मैनेजर श्रीयुत अनन्त देसाई, एम्. ए. महोदय का आभारी हूं कि उन्होंने वर्तमान दिक्कतों के होते हुये भी किसी न किसी प्रकार 'पुस्तक

छाप ही दी है। विक्रम कालीन साहित्य के सम्बन्ध में मैं वेदान्तव्याकरणाचार्य पं. भगवताचार्यजी शास्त्री से परामर्श करता रहा हूं. अतः उनका भी परम आभारी हूं। प्रस्तुत पुस्तक के कई दोष मुझे खटक रहे हैं। उदाहरणार्थ, पृष्ठ ८९ के १३ वीं लाईन में "भोग्यकली ५०५० " के स्थानपर गतकली ५०४५ होना चाहिये। पृष्ठ ९२ में सम्वत् १७८८ के स्थानपर १०८८ होना चाहिये। इस तरह की अन्य कई श्लोको में भी छपाई की भूलें है जिन्हें विद्वान पाठक स्वयं सुधार लें।

विक्रमकालीन इतिहास तथा सम्राट विक्रम का यश समुद्र की लहरों के मानिन्द मेरे सामने लहरा रहा है, उसके यश व कीर्ति की दिगन्तव्यापी तरंगे समुद्र की लहरों से अधिक व्यापक है। यदि सफल हुआ तो मैं विक्रमकालीन इतिहास को विशाल पुस्तकरूप में प्रस्तुत करूंगा। यह पुस्तक तो केवल प्रयासमात्र है। मुझे आशा है, भगवान मेरी इच्छा सफल करेगें।

भूमिका

पूरे २ सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । इस काल में भारत का प्राकृतिक चित्र शायद थोड़ा बदला हो परन्तु यहां के राजनैतिक मानचित्र ने कितनी ही बार नया चोला पहिना है और इसमें महान् परिवर्तन हुये है। इस अतीतकाल में भारत में इतने परिवर्तन हुये है कि इन्हें देखकर एक इतिहास के विद्यार्थी को आश्चर्यचकित होकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है । इस कालान्तर में भारत के राजनैतिकगगन में कितने ही तूफान आये, कितने ही राजघरानों के सौभाग्यसूर्य चमके और फिर काल के अन्तराल में प्रक्षिप्त होगये । पृथ्वी के इस भूभाग में कितनी ही बार राजनैतिक ज्वालामुखी पहाड़ उभड़े और एक के बाद दूसरी राज्य-क्रांतियां होकर वे सभी करालकाल के गाल में सभा गये। कितने ही बार, लगातार एक के बाद दूसरी विदेशी आक्रमणकारी सेनाओं ने इस भारत की पवित्र वसुन्धरा को पददलित किया और अन्त को यहींपर उन सबकी कब्र बन गयी। शक–हूँण, गजनी,–गोरी, पठान–मुगल, ईरानी—दुर्रानी, तथा कतिपय यूरोपियन राष्ट्रों के आक्रमणकारीदल भारत के राजनैतिक थियेटर में अपना २ पार्ट अदाकर अन्त को विस्मृति की गोद में विलीन हो गये। इतिहास ऊंची आवाज से पुकारकर कहता है जो राज्यनैतिक सूर्य एकबार उदय होता है वह अवश्य प्रक्षित होगा। यह ध्रुव सत्य है और अवंश्याम्भावी है । प्रकृतिका यह सत्य नियम है इसे कोई इनकार नहीं कर सकता। अस्तु---

जो राज्य न्याय और सत्य की बुनियाद पर स्थिर रहता है वह अटल होता है परन्तु जहां राज्य न्याय व सत्य से डिगा, वहां उसकी बुनि

याद हिलने लगती है। सम्राट् वीर विक्रम अपने न्याय और सत्य के लिये प्रसिद्ध है। वह प्रजा का पालक, अनाथों का संरक्षक और दीन-दुखियों का सहायक था। वह योगी था, यती था। उसे धन और यश की कभी इच्छा नहीं हुयी। जीवन पर्यन्त उसने दूसरों की सेवा करना ही अपना धर्म बना रखा था। यही कारण था कि लक्ष्मी और सरस्वती देवी सदा ही उसकी दासी बनी रहीं। वीर विक्रम के अन्दर कई महान गुणों का समावेश था। वह वीर पुरुषार्थी, दयालु और दूरदर्शी राज-नीतिज्ञ था। यह प्राचीन इतिहास की महान् विभूतियों में से एक हो गया है। उसने जो कुछ भी किया है, उससे उसका नाम विश्व के इतिहास में अमर हो गया है। परन्तु---

यूरोपियन इतिहासकार प्राचीन भारत की ऐसी महान विभूति का अस्थित्व स्वीकार करने में आनाकानी करते हैं। अबतक जितने भी पाश्चात्य विद्वान इतिहासकार इस देश में आये उन सभीने ऐसे पराक्रमी सम्राट् को कपोलकल्पित, मनगढ़न्त गाथाओं का एक पात्र तथा उपहास की एक सामग्री बताया है। पर इससे उस वीर विक्रम का अस्थित्व मिट नहीं जाता, उसका यश नहीं गिरता, बल्कि सत्यासत्य के एतिहासिक तराजू पर तोलने में उसका अस्तित्व और भी सच्चा साबित हो जाता है। २००० वर्ष पूर्व प्रज्वलित एतिहासिक दावानल में जलकर वीर विक्रम तपाये हुये सोने की तरह खरा, सूर्य के मानिन्द प्रकाशवान तथा एतिहासिक विभूतियों में ज्वाजल्यमान होकर चमकता है। वर्तमान भारत के तिमिराच्छन्न शुष्क नीरस व उद्दीप्त राजनैतिक वातावरण में वह चन्द्र के समान शीतल किन्तु ज्वाजल्यमान राहगीर बनकर जनता का पथ प्रदर्शन करता है।

आज भारत की क्या स्थिति है? उसकी २००० वर्ष पूर्व के भारत की स्थिति से तुलना कीजिये। जिस प्रकार अनार्य्यों से पददलित भारत पर उस समय शकों का प्रचण्ड हमला हो रहा था, ठीक उसी प्रकार आज भी वर्तमान काल में इस भारत के लिये पुनः धुरी

राष्ट्रों के मुंह से राल टपक रही है । जिस प्रकार २ हजार पूर्व विक्रम कालीन भारत में आर्य और बौद्धधर्म का धार्मिक प्रश्न एक जटिल समस्या बनी हुयी थी आज भी ठीक उसी प्रकार भारत में हिन्दू–मुसलिम प्रश्न भी एक वैसीही जटिल समस्या बनकर खड़ी है। आज भी भारत में अल्प-मत बहुमत का प्रश्न है, संरक्षण का प्रश्न है। विक्रम काल में भी ऐसे ही प्रश्न थे ओर कुछ अंशो में इनसे भी जटिल और उलझन पैदा करनेवाले। वीर विक्रम ने तत्कालीन स्थिति का अध्ययन किया, उसे समझा और उसके उपचार की भी दवाई ढूंढी और रोगी का रोग पहचान कर निदान किया।

उसने देखा कि देश की आन्तरिक हालत कमजोर है। अतः उसने देशका अन्दरूनी संगठन किया। भारत के तमाम राजे महाराजाओं के अलावा सुदूरपूर्व व दक्षिणमें में जावा, सुमात्रा तथा बोरनियो व सीलोन तक के राजकुमारों का उसने संगठन किया और एक विशाल सेना वैदेशिक आक्रमणकारियों से लड़ने के लिये तयार की, उसने आन्तरिक राजद्रोहियों का दमन करके सजायें दीं। उसने दिल्ली, पाटलीपुत्र, अयोध्या तथा काशी, बंगाल, आसाम के राजाओं को जीता। दक्षिण के राजाओं को जीतकर सारे भारतमें अपना साम्राज्य विस्तारित किया। तमाम देशवासी उसकी कीर्ति और यश का गुणगान करने लगे। "काव्यमिमांशा" में एक स्थल पर लिखा है।

"गीयंत्रे तव कार्तिकेयनगर स्त्रियांगणैः कीर्तयः"।

अर्थात् कार्तिकेयनगर की स्त्रियां उस वीर पुरुष की विजय के स्मरणार्थ उसके गुणों का गान करने लगीं। इससे सहजही में यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि विजित राज्य की प्रजा भी उस वीर विक्रम को कितना चाहती थी!

उसने रोम के राजाओं को हराया। कथा सरित्सागर में लिखा है-- "यो रुमदेशाधिपतिं शकेश्वरं जित्वा" अर्थात् उसने रोम के राजाओं को

जीता । उसने सब मिलाकर ९५ राजे जीते अथवा उसने रोम के ९५ शक राजापर विजय पायी ऐसा कई स्थलों में जिक्र आया है। ऐसे पराक्रमी विश्वविजयी सम्राट् की स्मृतिमात्र से भारत आज की पददलित अवस्था में अपने को गौरिवान्वित समझ सकता है।

आज भारत में अशान्ति है। यहांपर प्रजातंत्र की मांग की जा रही है। वर्तमान समय की डेमोक्रैसी तथा विक्रमकालीन गणतंत्रप्रणाली करीब एक ही ढंग की शासनप्रथा हैं। सम्राट् वीरविक्रम प्रजा द्वारा चुना हुआ सेना-नायक था। वह प्रजा द्वारा चुना हुआ धर्माध्यक्ष था। प्रजा द्वारा अभिशिक्त निर्णायक था। आज के दिन अमरीकन प्रेजीडन्ट रुजवेल्ट अथवा रसियन डिक्टेटर स्टालीन की जो स्थिति है ठीक वही सत्ता विकमकालीन भारत में वीर विक्रम की थी। फर्क इतना ही है कि आजकल के सत्ताधारी अपने को प्रजा का मालिक समझते हैं किन्तु, वीर विक्रम ने अपने को प्रजा का क्रियात्मक रूपमें सेवक घोषित किया था।

सम्राट् वीर विक्रमादित्य बड़ा धार्मिक, सहिष्णु तथा उदार प्रकृति का व्यक्ति था। उसके खजाने का धन प्रजा के हित तथा शुभकाम में व्यय होता था। वह गुणीजनों का ग्राहक तथा विद्वानों का स्नेही था। विक्रमकाल में संस्कृत साहित्य, संगीत तथा कला का खूब विकास हुआ।

ऐतिहासिक छानबीन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वीर विक्रम एक महान पुरुष हो गया है। उसके जीवन से हमें कई शिक्षायें मिलती हैं। वह महान आत्मा किसी भी काल में किसी भी शासन-प्रणाली के लिये पूजनीय रहेगी। वह एक महान सम्राट् होते हुये भी महान साम्यवादी था। आजकल इस जगत में जिस साम्यवादी प्रणाली का प्रचार हो रहा है वह केवल मिथ्याडम्बर है परन्तु सम्राट् वीर विक्रम ने क्रियात्मक साम्यवाद जनता के सामने रखा। वह महान दिग्विजयी हो गया है। उसकी धाक सुदुरपूर्व में जावा सुमात्रा आदि से लेकर सुदुर पश्चिम में रोमतक फैली थी। वह एक साम्यवादी साम्राज्यवादी था। उसके

जीवन से हमें कई मिलते उपदेश है। उसका जीवन हमारी आशाओं की ज्योति है।

आज इस जमाने में जबकि भारत के गगनमंडल में युद्ध के काले वादल मंडरा रहे है, राजनैतिक तूफान के लक्षण द्रष्टिगोचर हो रहे है; एक ओर असंतोष की विजुली चमक रही है, दूसरी ओर भारत के पूर्वी द्वारपर तोपें गरज रहीं हैं। ऐसी बिकटस्थिति में सम्राट् वीर विक्रम का जीवन हमारे लिये नवीन स्फूर्तिदायक है, हमारा पथ प्रदर्शन करता है। उसके स्मरणमात्र से हमारे जीवन में नयी लहर पैदा होती है, हमें नया जोश मिलता है। उसके गुणोंकी महिमा से हम अपने को प्रोत्साहित कर सकते है, अपने शत्रुओं पर विजय पा सकते है। उसके जीवन की शिक्षा से हम अपने वर्तमान को श्रेष्ठ तथा भविष्य को श्रेष्ठतर बना सकते है।

सम्राट् वीर विक्रम को हम केवल भारत का ही नहीं वल्कि विश्व की एक महान विभूति समझते है। इस महान वीर पुरुष के गुणों का संसार में प्रचार की जाने की आवश्यकता है ताकि विश्व का शाशकवर्ग उसके कार्यों का अनुकरण करें तथा उसके पग चिन्हों पर चले।

आज २ हजार वर्ष बाद ऐसी महान विभूतिं, अमरआत्मा को हम अपनी श्रद्धाअलि अर्पित करने है।

श्रीनिवास काटन मिल्स लिमिटेड
बम्बई १३. १–६–४४

—जी. डी. जोशी.

प्राचीन भारत की स्थिति

वीर विक्रमादित्य के जीवन चरित्र का पता लगाने के लिये भारतीय इतिहास के अन्धकारयुग में ऊँची रोशनी वाले चिराग को हाथ में लेकर ढूढ़ खोज करने की आवश्यकता है। प्राचीन भारतीय इतिहास असंम्बद्ध है। यत्र तत्र इसकी सामग्री बिखरी पड़ी है। प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुशोधन के लिये हमें यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम (१) प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करें। वेद, पुराण, धर्मशास्त्र तथा अन्य संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों को पढ़ें

(२) प्राचीन शिलालेखों तथा शिलपशास्त्र की निर्माण कला का चिन्तन करें ताकि हमें जो २ बातें इनमें मिलती हैं वे वास्तविक हैं अथवा नहीं, इसका ज्ञानहो सके।

(३) प्राचीन मुद्रा तथा शिक्कों को पहिचानें।

(४) प्राचीन साहित्य अध्ययन करके उसके आधार पर उस काल की सभ्यता तथा रहन सहन का पता लगावें।

(५) दन्त–कथाओं तथा किम्वदन्तियों के आधार पर उनकी असलियत का पता लगावें।

(६) वैदेशिक यात्रियों द्वारा लिखित तत्कालीन भारतकी धार्मिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति का अनुशीलन करें।

वीर विक्रमादित्य को पैदा हुये २००० वर्ष बीत चुके हैं। अतः इस वीर पराक्रमी सम्राट् के जीवनचरित्र का पता लगाने के लिये हमें इससे एक शताब्दि पूर्व तथा ३ शताब्दि बाद के इतिहास का पता लगाना आवश्यक है। परन्तु अभाग्यवश, यही युग भारतीय इतिहास

में अन्धकार युग कहलाता है। इस युग का क्रमबद्ध इतिहास अभीतक नहीं प्राप्त हुआ है।

ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया था। उस समय भारतीय सम्राट् महापद्मनन्द की वीरता तथा उसका पराक्रम सुनकर सिकन्दर घबरा उठा था और उसे उल्टे पांव वापिस जाना पड़ा था। इसी सम्राट् महापद्मनन्द का सर्वनाश करके भारतीय अर्थशास्त्र के पंडित चाणक्य ने मौर्य्यवंश की स्थापना की और चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने अपनी भुजाओं के बल से समस्त भारतवर्ष में एक प्रबळ पराक्रमी साम्राज्य की स्थापना की। अतः ईसा से पूर्व मौर्य्य कालीन इतिहास की छानबीन होचुकी है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक ने राज्यविस्तार की लिप्सा से कलिंग देशपर चढाई की और असंख्य जनहानि को देखकर उसने बौद्धधर्म स्वीकार करलिया। अशोक की मृत्यु के पश्चात् प्रबल पराक्रमी मौर्य्य साम्राज्य छिन्न भिन्न होगया। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि में मौर्य्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ की हत्या करके उसका सेनापति पुष्पमित्र राज्य का मालिक बन बैठा। और पुष्पमित्र ने शुंगवंश की स्थापना की।

पुष्पमित्र ने यवनराजा मिलेंडर को जीतकर राज्य का विस्तार बढ़ाया औरं इसने दो अश्वमेध यज्ञ भी किये। यह वैष्णवधर्मानुयायी था। शुंगवंशने प्रायः १०० वर्ष तक भारतके पाटलीपुत्रनगर में राज्य किया। इसके बाद ईसा से ७५ वर्ष पूर्व से २५ वर्ष तक कण्ववंश के नरेशों ने मगध पर राज्य किया इनके बाद पाटलीपुत्र अथवा मगध साम्राज्य प्रायःलुप्त होगया और इसकी गणना भारत के साधारण छोटे २ राज्यों में होने लगी।

यहाँपर यह बात स्मरण रखने योग्य है की शुंग तथा कण्ववंश के नष्ट होने के बाद प्रायः ३०० वर्षों तक अर्थात् ईसा की चौथी शताब्दि

तक भारतीय इतिहास असंम्बद्ध मिलता है। इसके बाद ही चौथी शताब्दि में हम भारत के गगनमंडल में प्रबल पराक्रमी गुप्तसाम्राज्य की ध्वजा को फहराता हुआ पाते हैं। गुप्त साम्राज्यको भारतीय इतिहासमें 'रामराज्य' कहा जाता है। इस बीच में गुप्तवंश का सौभाग्यसूर्य्य भारतीय राजनैतिक इतिहास में चमकता है और अपनी विजयदुंदुभिः बजाकर पुनः काल के अन्तराल में विलीन हो जाता है।

भारतीय इतिहास का अनुशीलन करने से पता चलता है कि ईसा के ६०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध के समय भारत में चार प्रबल पराक्रमी वंश राज्य करते थे। इनमें से मगध की राजधानी पाटलीपुत्र थी। कौशल की राजधानी अयोध्या थी। अवन्ति की राजधानी उज्जैन में थी तथा वत्स की राजधानी वत्स में थी।

जहां एक ओर उत्तरी भारत का राज्य इस प्रकार छिन्न भिन्न हो रहा था, वहां दक्षिणी भारत में आन्ध्र लोगों ने एक प्रबल साम्राज्य स्थापित किया हुआ था। हम उत्तरी भारत की राज्य-रंगस्थली पर आन्ध्रों को शासन करता हुआ पाते हैं। परन्तु दक्षिणी होने की वजह से ये लोग उत्तरी लोगों के अनुकूल वातावरण पैदा नहीं कर सके और इनका साम्राज्य भी उत्तरी भारत पर राज्यस्थिर न कर सका।

इस बीच में भारत में किसी पराक्रमी छत्रपति सम्राट् की कमी को देखते हुये विदेशी लोगों ने भारत पर चढाई करनी आरम्भ की और धीरे २ कई जातियों के राजा यहांपर आते गये। इनमें से मुख्य इतिहास व पुराणों में वर्णित निम्न है:—

१. आभीर के	१०	राजाओंनें	६९ वर्ष तक	राज्यकिया
२. धर्मभिल्ल	७	....	७२	...
३. शक ...	१९	...	१९३ ...	...
४. यवन ...	९	....	९९ ...	...

५. तुषार	... १४	...	१०५	...	....
६. मुरुण्ड	... १३	...	२०	...	...
७. हूँण	... ११	....	१०३	....	...

आमीरों का राज्य विस्तार, कोंकण तथा काठियाबाड़में था। गर्धभिल्लों का राज्य राजपूताने तथा अरवली पहाड़ के आसपास था। शक वंशी राजाओं की राज्य मालवा, मथुरा व परशिया तथा सिन्ध में था। यवनों का राज्य काबुल तथा बलख की घाटी में था। तुषार संभवत: कुपाण वंशी थे जिनका राज्य विस्तार पाटलीपुत्र तक हो गया था। मुरुण्ड भी कुषाणों की ही एक शाखा थी जो विदेशी थे और जो गुप्तकाल में भारत में आये और जिन्होंनें ने गुप्त राजाओं से लड़ाई की।

भारतीय राजाओं में शकों का एक विशेष स्थान है क्योंकि शक राजाओं नें वीर विक्रमादित्यसे युद्ध किया और उससे हार खायी। यही कारण है कि वीर विक्रमादित्य का नाम "शकारि" पड़ा। यद्यपि शकराजाओं के आक्रमण मौर्य्यवंश के पतन के बाद शुरू हो गये थे फिर की सेनापति पुष्पमित्र ने इन लोगों को परास्त किया। ईस्वी सन् के पूर्व प्रथम शताब्दि में जब ग्रीक राजाओं का शासन भारत के पश्चिम उत्तरीय भाग में समाप्त हो चुका था, तब शक लोगोने धीरे २ इनका स्थान लेना शुरु किया।

शक वंशी प्रथम राजा मोस (Maues) था। इसने ईसासे प्रथम शताब्दि में पूर्व गान्धार पर शासन किया था। इसके बाद संभवत: ऐजस (Azes) नामक शक राजा को गद्दी मिली। अब शक राजे आगे बढे। इनका विस्तार पंजाब तक हो गया। इन के पश्चात् दो अन्य शक राजे हुये। इनका नाम एजी लाईजिस (Azilises) तथा ऐयस होतिय (Satraps) था। इन शक अथवा शिथियन लोगों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में सैनिक गवर्नर भेजकर शासन प्रणाली चलाने का नियम

चालू किया। इन्हीं शक राजाओं द्वारा प्रेषित सैनिक गवर्नरों नें जो क्षत्रप (Satraps) कहलाते थे, तक्षशिला तथा मथुरा में राज्य किया। इन में में तक्षशिला के परिक, मथुरा के रंजुबल तथा सोजल का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका जिक्र मथुरा के शिलालेख (Lion Capital) में पाया जाता है। ईसा की प्रथम शताब्दि के मध्यतक ये क्षत्रप अथवा शक राजाओं के गवर्नर भारत के ओनेकोने में राज्य करते पाये गये। शक राजाओं के इन गवर्नरों ने उत्तर भारत में ही रहकर सन्तोष नहीं किया बल्कि ये लोग विन्ध्याचल को पारकर दक्षिण की ओर भी बढ़े। यही कारण है कि हम मालवा प्रदेश में अथवा गुजरात के आसपास वीर विक्रमादित्य से इनको लड़ता हुआ पाते हैं और पराक्रमी वीर विक्रम के हाथों ये लोग मार खाकर भागते हैं।

यह भी मालूम होता है कि इनकी एक शाखा दक्षिण के शासक शातबाहनों से लड़ी और उनसे कई युद्ध हुये। काठियावाड़ में इन दिनों नहपान नामक एक प्रबल क्षत्रप शक का राज्य था। नहपान का ज़िक्र कई शिलालेखों में मिला हैं। पाण्डलेना, मलिक, जुनार तथा काले की गुफाओं में इस सम्बन्ध में कुछ विवरण मिला है। नहपान का राज्य महाराष्ट्र, कोंकण, मंदसौर, मालवा तथा पुष्कर तक फैला था। ये लोग भारतवर्ष में आते ही भारतीय संस्कृति में लीन हो गये और इन्होंने वैष्णव धर्म की शिक्षा दीक्षा लेली। यही कारण हैं कि हम नहपान के जामाता उषवदन्त को वैष्णवों के पवित्र तीर्थ पुष्कर राज में दान और धर्म करता हुआ पाते हैं। ईसा की दूसरी शताब्दि में आन्ध्र राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त करके शातवाहन राज्य में मिला लिया।

उज्जैन में इन दिनों चष्टन नामक शक क्षत्रप का राज्य था। चष्टन नामक क्षत्रप का पौत्र रुद्रदामन एक बड़ा शक्तिशाली राजा

हो गया है। इसने दक्षिण के राजा शातकर्णी (शातबाहन) को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इसका वर्णन जूनागढ़ के लेख से मिलता हैं। "गुप्त साम्राज्य का इतिहास" नामक पुस्तक के लेखक श्री बाबू वासुदेव उपाध्याय तथा अन्य यूरोपियन इतिहासकारों का कहना है कि रुद्रदामनके वंशजों ने ईसा की चतुर्थ शताब्दि तक मालवा तथा काठियावाड़ में राज्य किया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन्हें हराकर मालवा तथा काठियावाड़ को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। परन्तु यह बात सर्वथा ग़लत हैं। जिस समय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय का आर्विभाव हुआ था उस समय भारत में शकों का राज्य छिन्नभिन्न हो चुका था। गुप्तकालीन भारत में शकों के अन्तिम हमले हुये। गुप्त राजाओं ने विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा समुद्रगुप्त ने शकों से ही युद्ध नहीं किया बल्कि हूणों से भी युद्ध किया। शक राजाओं का रिपुदमन केवल वीर विक्रमादित्य ही हुआ हैं जो ईसा से ५७ वर्ष पूर्व हुआ है।

ईसा की प्रथम शताब्दि में काबुल की घाटी में ग्रीस के राजा हरमेयस को हराकर कुषाण वंश के राजा केडफीसीस ने अपना राज्य जमा लिया। उसने गांधार तक अपना राज्य विस्तार किया। इसके बाद इसका लड़का कैडफीसीस द्वितीय गद्दी पर बैठा। यह शैव धर्मानुयायी था। इसी वंश में कनिष्क नामक एक और प्रतापी राजा हो गया है। कुछ लोगों की धारणा है कि इसी ने शालीवाहन शाके सम्बत् चलाया जो ईसा से ७८ वर्ष बाद से प्रचलित है। इसने अपना राज्य विस्तार मध्य एशिया से लेकर सारनाथ तक फैलाया। इसकी राजधानी तत्कालीन पुरुषपुर अथवा वर्तमान पेशावर में थी। इसके पश्चात् वशिष्क तथा हविष्क नाम के दो अन्य राजे इस कुशान वंश में हो चुके हैं। इस वंश का अन्तिमराजा वासुदेव था। इस का शासन

काल ई. पूर्व. १९२—७६ वर्ष तक का माना गया है। इस प्रकार लगभग २०० वर्ष तक राज्य करने के बाद कुषाण वंश नष्टभ्रष्ट हो गया।

कुषाण राजाओं के पतन के बाद भारत में दो अन्य राज-घरानों का शासन हुआ। इनमें प्रथम तो नाग अथवा भारशिव जाति के लोग थे और दूसरे वाकाटक वंश के लोग थे। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता जायस-वाल महोदय ने भारत का इतिहास नामक ग्रन्थ में नाग राजाओं का वर्णन किया है। इन्होंने नागों तथा वाकाटकों का शासनकाल ईसा से १५० वर्ष से ३५० वर्ष तक का माना है। नागवंश का इतिहास ढूढ़ने के लिये विशेषकर पुराणों, प्रशस्ति लेखों तथा सिक्कों को छान-बीनकर सहायता ली गयी है। नाग राजाओं को भारशिव इसलिये कहा गया है कि ये शैव मतानुयायी थे। इन लोगों ने शिवलिंग की प्रतिमा को अपने मस्तक पर धारण किया था। शिलालेखों में इन राजाओं को "भारशिवानां महाराजा" कहा गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि नागवंशी राजाओं ने शुंग तथा कुषाण वंशों से पूर्व भी राज्य किया तथा उसके पश्चात् भी राज्य किया। ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दि में विदिशा में राज्य करने वाले नागों को शुङ्गों के सामने परास्त होना पड़ा था। अतः विदिशा से हटकर नागवंशी राजाओं ने पद्मावती में अपना राज्य स्थापित किया। अतः विदिशा में शासन करने वाले नागों का शासनकाल ई. से ११० पूर्व से ७८ ई. तक माना जा सकता है।

इस सम्बन्ध में ऐसा ज्ञात होता है कि पद्मावती का अन्तिम नाग राजा शिवदत्त जिसे सिक्कों में शिवचन्दी के नाम से सम्बोधित किया गया है कुषाणवंशी राजा कनिष्क से लड़ा। इसके बाद नाग राजाओं ने अपनी राजधानी बदली और वे मध्यप्रान्त में आकर रहने

लगे। तत्पश्चात् मिर्जापुर के समीप कांन्तिपुर में इन्होंने अपनी राजधानी बनायी। इस प्रकार कुषाणकाल के बाद मथुरा से लेकर कोलिपुर तक नागों का राज्य विस्तार हो गया।

बीरसेन नाग वंश का पहिला राजा का जिसनें कुषाणों को पराश्त करके नाग साम्राज्य की स्थापना की थीं। वीरसेन के शिक्के संयुक्तप्रान्त तथा पंजाब में मिले हैं। फर्रुखाबाद के नागर नामक गांव में इस सम्बन्ध में कुछ शिके भी मिले हैं। पुराणों में इस वंश के तीन राजाओं का वर्णन हैं। इस वंशका अन्तिम राजा भवनाग था। इसके पश्चात् नागशाखा बाकाटक वंश में विलीन हो गयी।

इतिहास के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि नागवंशी राजाओं का राज्य केन्द्रीभूत नहीं था बल्कि इन दिनों एक प्रकार का प्रजातंत्र राज्य था। इनकी कई शाखायें हो गयी हैं। एक शाखा के अन्तर्गत कोलीपुर, मथुरा, व पद्मावती थे। दूसरी शाखा दक्षिण में बुद्धेलखंड, मध्यप्रान्त तथा मालवा में फैली थी; तीसरी शाखा विशद की ओर चम्पावती (भागलपुर आदि स्थानों में) में थी, इस प्रकार की गणतंत्रप्रणाली कुषाणों के पतन तथा गुप्तसाम्राज्यके उत्थान के पूर्व प्रायः समस्त भारतवर्ष में भिन्न २ राज्यों में प्रचलित थी। ऐसा तत्कालीन इतिहास के अनुशीलन ज्ञात होता हैं।

भारशिववंश के राजा शैवमतानुयायी थे। इन्होंने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये और कुषाणों पर विजय पायी। इन लोगों का जीवन बड़ा सादगी का था। प्रजा का हित देखना ही ये अपना परमकर्तव्य समझते थे। इस प्रकार इन्होंने देश में राष्ट्रीय भावना का प्रचार करके दुश्मनों को मार भगाया।

नागों अथवा भारशिवों के बाद भारत में बाकाटक नाम के एक और प्रसिद्ध वंश के राज्य करने का इतिहास में पता चला हैं। वायुपुराण

में बाकाटकों के आदिपुरुष का नाम विन्ध्यशक्ति कहा गया हैं। "ततः कोलकिले श्मश्च विन्घशक्तिमविष्याति" (बा. पु. ९९।३६९) कुछ इतिहासकारों का मत हैं कि ये लोग बाकाटक स्थान के निवासी थे। अतः उक्त स्थान के निवासी होने के कारण इनका नाम बाकाटक पड़ गया। इस वंश का प्रथम राजा विन्ध्यशक्ति था। उसके बाद उसके पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने लगभग ६० वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद इसके पुत्र गौतमीपुत्र ने नागवंशी राजाओं से विवाह सम्ब्रन्ध किया परन्तु वह राज न कर सका। अतः गौतमीपुत्र का लड़का रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा। रुद्रसेन के बाद पृथ्वीषेण राजा हुआ हैं। इसका सम्राज्य बड़ा प्रतापी था और यह समुद्रगुप्त से लड़ा भी था। इनके बाद बाकाटकों की क्रान्ति हीन होने लगी। यहांतक कि अन्तको पृथ्वीषेण के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय से सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्यने अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह करवा दिया।

गुप्तवंश के साम्राज्य के साथ २ प्रवरसेन द्वितीय का साम्राज्य आरम्भ होता है। प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र नरेन्द्रसेन बड़ा ही प्रतापी राजा हो गया है। इसने कुन्तल नरेश की कुमारी अञ्जिना से विवाह किया। इसके वाद हरिषेण का राज्य हुआ। इस प्रकार कुल मिलाकर २५० ई. से लेकर ५०० ई. तक लगभग २५० वर्षतक बाकाटक राजाओं के उत्तरी भारत पर राज्य करने का पता लगा हैं। संभवतः छटी शताब्दि के आरम्भ में जब दक्षिण में चालुक्यों का राज्य आरम्भ हुआ तो उनके द्वारा बाकाटकों के नाश होने का पता चला है।

भारशिवों की भांति बाकाटक भी परमशैव थे, यह भी राष्ट्र निर्माता, धर्म्मोद्धारक तथा आर्य्य सभ्यताभिमानी थे। इनके साम्राज्य में इन्होंने (१) अखिल भारतवर्षीय सार्वभौम सत्ता की कल्पना की थी (२) संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार किया था (३) समाजका पुनरुज्जीवन किया था।

अवन्तिका अथवा उज्जयिनी

प्रथम परिच्छेदमें भारतवर्ष के लगभग १००० वर्ष का–ईसा से ४०० वर्ष पूर्व से लेकर ६०० वर्ष बाद तक–इतिहास का सिंहावलोकन किया गया है। अब इस परिच्छेद में यह बताया जाता है कि वीर विक्रमादित्य की राजधानी अवन्तिका अर्थात् उज्जयनी में ईसा से ४०० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के लगभग ६०० वर्ष तक कौन २ से राजाओं ने कहां २ से आकर राज्य-शासन किया ? किस प्रकार अवन्ति नगरी ने उत्थान और पतन के नये २ नजारे देखे। प्राचीन राज सिंहासनों की रंगस्थली उज्जयनी अथवा तत्कालीन अवन्ति भारतवर्ष में अपना कैसा स्थान रखती है ?

अवन्तिका अथवा उज्जयनी विंध्याञ्चल पहाड़ के उत्तर की ओर बसी हुयी है। सम्प्रति इसी को उज्जैन कहते हैं। प्राचीन समय में इसका नाम अवन्तिदेश था परन्तु जबसे पंजाब प्रांत से मालव लोग आकर यहां बसे तबसे इसका नाम मालवदेश पड़ गया। यदि वास्तव में देखा जाय तो यह नगरी केवल मालवा के ही बीचमें स्थित नहीं है वल्कि समस्त भातववर्ष के मध्य के स्थित है। अतः यही कारण है की राज्यप्रबन्ध तथा भौगोलिक द्रष्टि से तथा गणितशास्त्र व ज्योतिष-शास्त्र की रेखाओं के गणनानुसार इस नगरी को महत्व मिला। यह स्थान कितना प्राचीन है और कब बना इसका ठीक २ अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता परन्तु पुराणों तथा इतिहास में इसका वर्णन मिलता है। स्कन्धपुराण में इसको 'प्रतिकल्पा' कहा गया है। वास्तवमें प्राचीन अवन्तिका अथवा पुराना उज्जैन तो आजकल के गढ़ नामक जगह के नीचे दबा हुआ मालूम पड़ता है। इसकी छानबीन प्राचीन

शिक्के तथा धातुओं के पात्रों को ढूढखोज करके किया गया हैं।

आर्यकालीन अवान्तिका बहुत प्राचीन नगरी है। इसमें कोई संदेह नही है। वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु उसके पश्चात् सूत्रग्रन्थों मे तथा पुराणों में इसका जिक्र आया है। इससे ज्ञात होता है कि इस देश में अवन्तिका नगरी आजसे ५ हजार वर्ष से पूर्व विद्यमान थी। वौधायन प्रणीत धर्मसूत्र में (प. १ अ. ख. २ सू. १३) अवन्ति देश में मिश्रजाती का उल्लेख उसमें पाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वौधायन के समय यहां इस जाति का विस्तार बहुत हो गया था। यद्यपि वौधायन का काल अभीतक अनिश्चित है फिर भी यह मानता पड़ता है कि आपस्तंवादि समस्त सूत्रों की रचना का काल ईसा से पूर्व ४२० वर्ष से लेकर ५०० वर्ष तक अनुमानित हो चुका है क्योंकि उक्त ग्रन्थ में सबसे पहिले का सूत्र आपस्तंबसूत्र है और सबसे पीछे का सूत्र आश्वयायन सूत्र है। इन दोनों सूत्रों के मध्यकाल में श्री वौधायन सूत्रों की रचना का काल कहा जा सकता है। अतः हम अनुमानतः यह कह सकते हैं।

अबः इस प्रकार हिसाब लगानेपर हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि अवन्तिका का अस्थित्व आजसे लगभग ५००० वर्ष पूर्व विद्यमान था। इसके प्राचीन अस्थित्व का प्रमाण श्रीमदभागवत् तथा महाभारत के ग्रन्थों में भी मिलता है क्योंकि इसमें अवन्तिका प्रदेश का जिक्र आया है। भागवत् पुराण के १० वें स्कन्दके ४५ वे अध्याय में जिक्र आता है कि भगवान कृष्ण तथा उनके भाई बलदेव विद्योपार्जन के के उद्देश्य में अवन्तिका प्रदेश में जाते हैं और वहां सान्दीपिन नामक गुरु के आश्रम में रहते हैं वहींपर सुदामा भी विद्योपार्जन के लिये जाता है। यह अख्यायिका जगत प्रसिद्ध है। गुरु सान्दीपिन की गुफा अभीतक यहांपर विद्यमान है। महाभारत के समापर्व अध्याय

३१ में जब पाण्डव राजसूय यज्ञ करने के निमित्त दिग्विजय को निकलते है तो सहदेव अवन्ति देशपर आक्रमण करके उनसे कर मांगता है ऐसा जिक्र यहांपर आया है। इतनाही नहीं, वल्कि महाभारत के उद्योग पर्व १८ वें अध्याय में लिखा है कि अवन्ति देश के राजा विन्द तथा अरविन्द दोनों भ्राताओं ने कौरवों की ओर से महाभारत के युद्ध में भागलिया था। ये तीनों वृतान्त यह बतलाने के लिये पर्याप्त प्रमाण है कि अवन्तिका नगरी अर्थात् वर्तमान उज्जयनी या उज्जैन आजसे ५ हजार वर्ष पूर्व के समय मौजूद थी। इतिहासकार इस बात को सप्रमाण मानते हैं कि महाभारत युद्ध ईसा से ३१०१ पूर्व आरंभ हुआ था। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि आज से ५ सहस्त्र वर्ष से भी पूर्व अवन्तिका नगर एक देदीप्यमान हालत में था। यहांपर सुप्रसिद्ध विद्यापीठ था। आजकल के आक्सफर्ड अथवा कैम्ब्रिज की तरह तमाम दुनियासे छात्र यहां विद्याभ्यास को आते थे। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि कृष्ण तथा बलराम जैसे महान राजनीति के विद्यार्थी विद्याभ्यास के निमित्त अवन्तिका गये थे।

रामायण में भी अवन्तिका का जिक्र आया है। जब सुग्रीव श्री सीतादेवी की खोजके निमित्त बानरों के दल को पम्पापुर से चारों दिशाओं को भेजता है तब वह अवन्ति नगरी का भी वर्णन करता है। यद्यपि रामायण महाभारतसे बहुत पहिले का ग्रन्थ है फिर भी इससे ज्ञात होता है कि अवन्ति प्रदेश रामायण काल में भी उपस्थित था।

विशेष करके पुराणों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि अवन्ति देशपर कितनेही राजवंशों ने कितनेही कालतक राज्य किया। पुराणों में इस नगरी के कई नाम है। कनकश्रृंगा, अमरावती, विशाला आदि नाम विशेषकर मशहूर हैं। पुराणों में कई चन्द्रवंशीय राजाओं के इस देशमें राज्य करने का जिक्र किया गया है। शूद्रककृत,

मच्छकटिक, सोमदेवभट्टकृत कथासरित्सागर, कालीदासकृत मेघदूत, बाणभट्टकृत कादंबरी आदि ग्रन्थों में वर्णित बातों से प्रत्यक्ष साबित होता है कि उस समय अवन्तिका अपने वैभव तथा सम्पत्ति व ठाठ वाट के लिये प्रख्यात थी।

मेघदूत में कालीदास ने अवन्तिका नगरी का जो चित्र खींचा है वह कितना मनमोहक है। जरा देखिये! कवि कहता है यह नगरी "श्री विशालां विशालम" थी। आगे कहा गया है कि "हैमं नाल द्रुम बनमचूदत्त तस्यैव राज्ञः"।

इसी प्रकार मृच्छकटिक ग्रन्थ में शूद्रक का खींचा हुआ वसंतसेना नामक वेश्या का विशाल धनधान्य सम्पन्न वैभव तथा आलीशान आगारों का जो अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है वह यद्यपि सर्वथा सही नहीं हो सकता फिर भी उसमें अतिशयोक्तिकी मात्रा अधिक नहीं है। क्योंकि वगैर तत्कालीन देखे हुये ऐसे नगर की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। ऐसा ज्ञात होता है कि सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा व्यापारिक दृष्टिसे तत्कालीन अवन्ति अथवा उज्जैन देश देशान्तरों में प्रसिद्ध थी।

जिस प्रकार इस महायुद्ध से पहिले संस्कृति, सभ्यता, तथा विद्या के केन्द्र लंडन तथा पैरिस समझे जाते थे ठीक उसी प्रकार प्राचीनकाल में विद्यापीठ, राजऐश्वर्य्य तथा सांस्कृतिक सभ्यता का केन्द्र उज्जयनी में था। यही कारण है कि अवन्तिका का नाम क्षेत्रों में आया है। स्कन्ध पुराण में लिखा है कि "क्षीयते पातकं यत्र तेनेदं क्षेत्र म्मुच्यते" अर्थात् जिसस्थान पर पापों का नाश हो वही क्षेत्र कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है यह अवन्तिका वैष्णव तथा शैव दोनों संप्रदायों की क्रीड़ास्थली थी। यही कारण था कि देशभर के प्रसिद्ध विद्वान, गुणीजन तथा कलासम्पन्न व्यक्ति यहां पर एकत्रित

होकर अपना अहोभाग्य समझाते थे। यहां पर समय २ पर वैज्ञानिक तथा धार्मिक चर्चायें हुआ करती थीं। योग्य तथा महात्माजनों को अपनी २ प्रतिभा दर्शाने का स्वर्ण अवसर मिलता था। संक्षिप्त में यह नगरी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चतुर्थ पदार्थों की रंगस्थली थी। ईसा से २३२ वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हुयी। उसकी मृत्युके पश्चात् पाटलीपुत्र नगर की राज्य-व्यवस्थामें कई परिवर्तन हुये। यहां पाटलीपुत्रका राज्यचक्र ढीला पड़ा, जगह२पर बगावतें होने लगी और छोटे मोटे राजे स्वतंत्र होने लगें। इस प्रकार मौर्य राज्यके शिथिल हो जानेसे पंजाबके आसपास राबी नदीके तटपर रहनेवाले मालव लोगोंने अवन्ति देशपर चढ़ाई की और उज्जयनीमें अपने स्वतंत्र राज्यकी घोषणा कर दी।

हरिवंश नामक वंशावलीमें मालव लोगोंको चंन्द्रवंशीय क्षत्री बताया गया हैं। ये लोग बड़ेही बलवान, पराक्रमी और वैभवशाली लोग कहे जाते थे। कहा जाता है कि जब कौरव पाण्डवोके बीच महाभारतका युद्ध हुआ था, तब उस समय इन्होंने कौरवपक्षका साथ दिया था। यह भी कहा जाता है कि जब सिकन्दर महानने भारतवर्षपर आक्र-मण किया था तब इस मल्लवंशके बीर उससे भी लड़े थे। इतिहासकी ढूंढखोज करनेसे यह भी ज्ञात होता है कि 'मालव' शब्द मल्ल शब्दका अपभ्रंश है। यथार्थमें ये मालव लोग मल्लवंशीय क्षत्री हैं। अब भी मल्ल तथा शाही वंशके कुछ चन्द्रवंशी राजपूतोंके परिवार नैपालकी तराई तथा कुमाऊं के इलाकेमें मौजूद हैं। इतनी शताद्बियाँ बीतने पर भी मल्ल क्षत्रियों का रहन सहन साधारण राजपूतों से ऊंचा है। ये लोग अभीतक अपने को राजपूतों से ऊंचा सच्चा क्षत्री मानते हैं और बड़े पराक्रमी और बीर होते हैं। मल्ल शब्द की व्याख्या से ही प्रतीत होता है कुश्ती लड़ने वाला शूरवीर तथा लड़ाकू

कौम का योद्धा। अतः उक्त पंजाब से जिन मालव वा मल्ल लोगोंका दल अशोक के मरने पर रावी नदी को छोड़कर राजपूताने की ओर होता हुआ अवन्ति प्रदेश पर आया वे लोग विशुद्ध चन्द्रवंशीय क्षत्री थे।

राजपूताने के नगर अथवा नागरी ग्राम में कुछ प्राचीन शिके प्राप्त हुये हैं। इन शिकों पर "जय-मालवाणाम्" शब्द खुदे हुये हैं। इन पर लिखे हुये शब्दों की बनावट तथा आकार प्रकारादि को देखने से ज्ञात होता है कि ये ईस्वी सन् से पूर्व पहिली शताब्दि के हैं। अतः इन सिक्कों के देखने से यही निश्चित किया जा सकता है कि ये शिके इन्हीं मालव लोगों के प्रचलित किये हुये हैं, अतः अनुमानतः राजपूताने के राजाओं को विजय कर के इन के द्वारा अवन्ति में नया राज्य स्थापन करने का काल ईस्वी शताब्दि से पूर्व के आसपास का ज्ञात होता है। यही कारण है कि अपनी विजय के चिरस्मरणार्थ इन्हीं मालव लोगों ने अवन्ति राष्ट का प्राचीन नाम बदलकर मालवा राज्य रख दिया। तब ही से अवन्ति राज्य 'मालवा' राज्य कहलाने लगा।

पंजाबसे मालव लोगोंका जो दल राजपुतानेकी ओर आया और जिसने अवन्तिकाको अपनी राजधानी बनाया वह कौनसा सर्दार था और उसने किस प्रकार यहांपर सफलता प्राप्त की अभीतक इस सम्बन्धमें अधिक छानबीन नहीं हो सकी है परन्तु किम्वदन्ती है कि मालव राज्यका आदि संस्थापक राजा गंधर्वसेन हुआ हैं। उज्जयनीमें मालव जातिका यहीं पहिला राजा है जिसने राज्यकी सीमाको अपनी भुजाओंके बलपर बढाया। कहते है कि इसके दो लड़के थे। बड़े राजकुमारका नाम भर्तृहरि तथा दूसरे राजकुमारका नाम विक्रम था। गन्धर्वसेनके पश्चात् उसका जेष्ट राजकुमार भर्तृहरि गद्दीपर बैठा

परन्तु कुछ कालके पश्चात् वह राज्यके झगड़ोंसे उबकर विरक्त हो गया और उसने नाथपंथकी दीक्षा लेली। यह वही भर्तृहरि हैं जिन्होंने बादमें 'वैराग्य शतक' 'नीति शतक', 'श्रृगार शतक' नामक प्रासिद्ध सतश्लोकी काव्यों की रचना की है। भृर्तहरिके गद्दी त्याग ने के बाद उनका कनिष्ट भ्राता जो एतिहासिक वीर विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है, सिंहासनारूढ हुआ। यही वीर विक्रम है जिसका जीवन चरित्र आगे के अध्यायों में दिया जावेगा। इसी ने ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दि के मध्य में राज्य किया था। वह बड़ा शूरवीर था, बड़ा दानी थी, बड़ा विद्वान था और प्रजा का सेवक, न्याय की मूर्ति यही वीर विक्रम था। इतने शकों को पछाड़ा मौर्य्य राज्य के तितर वितर होनेपर पंजाब की ओर से जिन शक लोगों के जत्थो ने भारतपर हमला किया का, उनका इसी वीर ने अपनी भुजाओं के बलपर, राजपूती जौहर दिखाते हुये उन्हें पंजाब से बाहर भगा दिया।

अशोक की मृत्यु के बाद जो जाति यत्र तत्र असंगठित होकर विदेशी शकों का शिकार बन रही थी, उस हिन्दू जातिको इसने जविन मंत्र पढाया और विजय का शंख फूखकर सारे भारतवर्ष को संगठित कर दिया। जो छोटे २ राजा पाटलीपुत्र के अधःपतन के बाद इतस्ततः हो गये थे वे फिर से संगठित होकर एक प्रबल विक्रम राष्ट्र की रज्जू में सुसंगठित व सुसंबद्ध हो गये। इसी वीर विक्रमने सारे भारत में एक सबक सिखाया, नया पाठ पढाया, नया मंत्र दिया। वह था राष्ट्रीयता का पाठ, धर्म का पाठ, देशसेवाकी लग्न। यही वीर विक्रम था जो जमीनपर सोता था, स्वल्पाहार जीवन निकालता था, परन्तु उसने महान राष्ट्र की स्थापना करके पुनः नया सनातन धर्म का डंका बजाया था। वीरविक्रम स्वयं शैवमतानुयायी था, परन्तु इतना होने पर भी किसी जैन अथवा बौद्ध धर्म से उसको घृणा न थी।

पराक्रमी सम्राट् विक्रम

महाभारत के महायुद्ध के पश्चात् भारत में एक प्रकार से वैदिक धर्म का प्रदीप यदि बुझा नहीं तो एक प्रकार से टिमटिमाने जरूर लगा था। महाभारत के महायुद्ध ने भारत की कला, भारत की संस्कृति, साहित्य व वीरता को कुछ काल के लिये मिट्टी में मिला दिया था। उस महायुद्ध को व्यतीत हुये ५ हजार वर्ष से अधिक हो चुके हैं। उसके बाद भारतवर्ष में प्रबल पराक्रमी राजाओं तथा सम्राटों का अभ्युत्थान नहीं हुआ। यद्यपि राज्यों की वंशपरम्परा चालू रही परन्तु सम्राट् कहलाने वाले पराक्रमी महाबलशाली राजा आविर्भूत नहीं हुये।

महाभारत के युद्ध के आरम्भ से लेकर लगभग ३ हजार वर्ष का भारतीय इतिहास क्रमबद्ध न मिलने से एक प्रकार से अन्धकार पूर्ण है। क्रमबद्ध इतिहास की श्रृंखला टूट गयी है। इसका कारण यह है कि समस्त भारतवर्ष में प्रतापशाली सम्राटों का अभाव था। यद्यपि राज्य की सत्ता ज्यों की त्यों बनी रही परन्तु देशव्यापी साम्राज्यसत्ता का अस्तित्व नहीं रहा था। समस्त देश यत्र तत्र छोटी छोटी रियासतों में बंट गया था। इस राजकीय सत्ता के अभाव तथा महाअन्धकार के युग में विदेशी विजेता आक्रमणकारियों के रूप में भारतवर्ष में आते रहे।

इस प्रकार भारतीय राजनैतिक सत्ता की महान् रात्रि में जबकि जगह-जगह पर बौद्धधर्म का प्रचार बढ़ रहा था, स्थान स्थान पर 'अहिंसा परमोधर्मः' का बोलवाला था, जब कि भारत के लोग विदेशियों के हमले तथा बौद्धों के आन्तरिक अहिंसा के प्रचार से पंगु बन गये थे, जबकि सत्य सनातन वैदिकधर्म का सूर्य भारत के अस्ताचल में लीन हो गया था, प्रजा दुःखी थी, देश में अत्याचार और विदेशी शकों के आक्रमणों से त्राहि त्राहि मची थी ऐसे महान् विपत्तिकाल में 'गो ब्राह्मण हितार्थाय' की कहानी को चरितार्थ करने वाला, प्रजा की रक्षा करने वाला और सत्य तथा धर्म का प्रचारक वीर पराक्रमी विक्रम पैदा हुआ। यही उज्जैनीश्वर सम्राट् वीर विक्रम के नाम से संसार में विख्यात हुआ। इस देश में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जिसने इस महान वीर पुरुष की उदारता की कहानियाँ न सुनी हों। इस महान् पुरुष का जीवन-चरित्र इस देश के स्त्री पुरुष व आबालवृद्ध सबके लिये महान् शिक्षा तथा मनोरंजन की अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री है। इस महान् पुरुष का जीवन भारतीय संस्कृति के उपासकों के लिये 'डूबते को तिनके का सहारा' के तुल्य है। यह महान् पुरुष परदुखभंजक था। दीनों का मित्र तथा गरीबों का पालक था। इस प्रजापालक महान् सम्राट् में केवल राजकीय गुणों का ही समावेश नहीं था बल्कि उसमें सभी उदार गुणों का सामञ्जस्य था।

सम्राट् विक्रम कितना दयालु था कितना पराक्रमी व कितना दानी था उसका थोड़ा सा आभास गुणाढ्य कवि की निम्न पाक्तयों से मिलता है। सम्राट् विक्रम के सम्बन्ध में वह लिखता है:—

"स पिता पितृहीनानामवन्धूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नामवत् ॥
महावीरोप्यभूद्राजा स भीरुः परलोकतः।
शूरोपिचाचण्डकरः कुभर्ताप्यङ्गनाप्रियः ॥

अर्थात् वह पितृहीनों का पिता, भातृहीनों का भाई और अनाथों का नाथ था। वह प्रजा का क्या नहीं था? महावीर होने पर भी वह परलोक से डरता था और शूर होने पर भी वह प्रचण्डकर नहीं था और कु (पृथ्वी) का भर्ता होने पर भी वह अंगनाप्रिय था। यही कारण है कि आज २००० वर्ष बीतने पर भी हम उसके गुणों की चर्चा करते नहीं अघाते।

सम्राट् वीर विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में अनेक गाथायें प्रचलित हैं। कहीं २ पर ये गाथायें इतनी कल्पित और अप्रासंगिक हो गयी हैं कि उनका एक मेल लगाना असंभव प्रतीत होता है। इस सम्बन्धमें जो नयी नयी बातें मालूम हुयी हैं उनको यहांपर क्रमशः संक्षेप में दिया जाता है:—

(१) 'बैतालपचीसी' नामक ग्रन्थ में, जिसे महाराज सवाई जयसिंह ने आरम्भ में संस्कृत से ब्रजभाषा और बाद को खड़ी बोली में अनुबाद कराया था, जिक्र आता है कि अवन्ति नगरी के राजा गन्धर्व-सेन की ४ रानियां थीं। उनके ६ राजकुमार हुये। राजा की मृत्यु के पश्चात् सबसे जेष्ठ राजकुमार शंख गद्दी पर विराजे। कुछ दिन पीछे विक्रम अपने बड़े भाई शंख की हत्या करके स्वयं गद्दी के मालिक बन बैठे। उन्होंने भारत की दिग्विजय यात्रा करके अपने नाम का संवत् चलाया। कुछ दिन पश्चात् महाराज विक्रम अपने छोटे भाई भर्तृहरि

को राज्य सौंपकर योगी का रूपधारण कर देशाटन करने को निकले। अब इस बीच उज्जैन में महाराज भर्तृहरि राज्य करने लगे। इन्हीं दिनों इसी नगरी में एक तपस्वी ब्राह्मण रहता था। एक दिन इस ब्राह्मण की तपस्या से प्रसन्न होकर देवता ने एक अमृतफल लाकर उन्हें दिया। ब्राह्मण ने प्रसन्न होकर वह फल महाराज भर्तृहरि के दर्बार में उपस्थित किया और उनसे कुछ धन की याचना की। महाराज ने उस ब्राह्मण को धन देकर वह फल अपनी सबसे प्रियरानी को दे दिया और उससे कहा कि तुम इस फल को खाकर अमर हो जाओगी। उस फल को प्राप्त करते ही रानी ने उसे अपने परमप्रिय शहर-कोतवाल को दे दिया और कोतवाल ने उसी फल को अपनी परमप्रिय वेश्या को जाकर दिया। अन्त में उस वेश्याने वही फल पुनः महाराज को अर्पण किया। राजा भर्तृहरि को यह लीला देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने को धिक्कारने लगे। उन्होंने रानी को बुलाकर फिर वही फल दिखाया तब वह भी अत्यन्त विस्मित हुयी। अन्त को महाराज ने स्वयं उस फल को खालिया। अतः वह भी इस घटना को देखकर राज्यकाज से विरक्त हो योगी बनकर बन बन में फिरने लगे। उनके सिंहासन त्यागने का समाचार सुनकर विक्रम पुनः यात्रा से लौट आये और उज्जैन में रहकर राज्य करने लगे। महाराज भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' नामक जो ग्रन्थ लिखा है उसके आरंभ में जो श्लोक आया है वह उक्त घटना को चरितार्थ करता है:—

> "या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता।
> साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यशक्तः॥
> अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या।
> धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

अर्थात् मैं जिस स्त्री का चिन्तन करता हूँ वह मुझसे विरक्त है और किसी दूसरे को ही चाहती है जो किसी दूसरे पर आसक्त है और मेरे लिये एक और ही स्त्री प्रसन्न है इसलिये मुझको, उस औरत को, उस पुरुष को तथा मदनदेव कामदेव को धिक्कार है, धिक्कार है !

आज भी उज्जैन नगर के बाहर भर्तृहरि की गुफा है । यह उन्हीं भर्तृहरि की गुफा है या अन्य किसी की। कई लोग अभी भी इस गुफा को देखकर इसकी यथार्थता का पता लगा सकते हैं कि यह कौन से भर्तृहरि की गुफा है ? यह बात अभी विवादास्पद भी हो सकती है । अस्तु—

(२) 'सिंहासन बत्तीसी' नामक ग्रन्थ में, जो वेतालपच्चीसी की भांति वीर विक्रम की कथाओं से भरपूर है, लिखा है कि अम्बावती नामक नगरी में श्याम स्वयंवर नामक एक ब्राह्मण राजा राज्य करते थे जो बहुत प्रतापी होने के कारण बाद को गन्धर्वसेन नाम से विख्यात हुये । उक्त राजा की चार रानियां थी जो चारों वर्णों से उत्पन्न थीं । प्रथम रानी जो ब्राह्मण कन्या थी, से एक पुत्र उत्पन्न हुआ । दूसरी रानी जो क्षत्रिय वर्ण की राजकुमारी थी, से तीन पुत्र पैदा हुये जो शंख, विक्रम और भर्तृहरि कहलाये । आरम्भ में ब्राह्मण रानी का पुत्र स्वयं राजा का दीवान बना परन्तु कुछ अपराध करने के कारण वह पदच्युत हो गया । अतः वह तुरन्त अम्बावती छोड़ धार में चला गया । वहांपर उसने भोज राजाओं के वंशजों को मारकर स्वयं गद्दी ले ली और वह फिर अपनी राजधानी को धार से उज्जैन ले गया । इसकी मृत्यु के पश्चात् शंख गद्दी पर बैठे और शंख के बाद विक्रम गद्दी के मालिक बने । विक्रम की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र जैतपाल गद्दी के मालिक बने ।

अब यहां पर उक्त घटनायें इस प्रकार मिल गयी हैं कि उनमें यथार्थ बात ढूंढ़ निकालना सर्वथा कठिन होगया है । विक्रम तथा उपाधिधारी विक्रमों के सम्बन्ध में कई कथायें ऐसी मिलजुल गयी हैं कि उनका यथार्थ विवेचन पीछे किया जावेगा। हां, इतनी स्मरण रखने योग्य बात है कि वीर विक्रम के जीवन की घटनायें पीछे के नामधारी विक्रमों से मिलजुल गयी है और कालान्तर में वही प्रसंग बश आती हैं ।

(३) दन्तकथाओं के आधार पर भी इस विषय पर यहां विचार कर लेना आवश्यक है । उत्तर भारत के घर घर में गोपीचन्द भर्तृहरि की आख्यायिका प्रसिद्ध है। भारत के कई इलाकों में विशेषकर पंजाब के हरियाना प्रांत में इनके गीत गाये जाते हैं। इन गीतों के अनुशीलन से प्रकट होता है कि विक्रम और भर्तृहरि राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे। महाराज भर्तृहरि आरंभ में बड़ा विलासी जीवन व्यतीत करते थे और उनकी १६०० रानियां थीं। एक दिन जब वह मृगया करने निकले तो उन्होंने एक मृग को मारा। मृग के मरते ही तत्काल उस मार्ग से गुरु गोरखनाथ गुजरे और उन्होंने अपने तपोबल से उस मृग को जिन्दा कर दिया। उन्होंने भर्तृहरि को संसार की अनित्यता का उपदेश देकर अपना चेला बना लिया। यह कहा जाता है कि गोपीचंद महाराज भर्तृहरि के भानजे हैं इन्होंने भी अपनी माता मैनावती का उपदेश ग्रहणकर यौवनकाल ही में सन्यास लेकर अपने मामा भर्तृहरि का साथ दिया। इससे यही सिद्ध होता है कि विक्रम और भर्तृहरि सगे भाई थे। इनकी एक बहिन थी जिसका नाम मैनावती था जिसके पुत्र गोपीचन्द हो गये हैं।

यहांपर यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि गुरु गोरखनाथ ईसा की १० वीं शताब्दि में हुये। अतः भर्तृहरि, विक्रम, गोपीचन्द आदि का जो वर्णन इस काल में आता है संभव है यह परमारवंशीय विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखता हो क्योंकि परमारवंशीय विक्रम भी १० वीं शताब्दि में हुये हैं अतः यह भी विचारणीय विषय है।

(४) दन्तकथाओं के आधार पर यह भी कहा जाता है कि सम्राट् विक्रम ने एक बार अपनी रानी को घर से निकाल दिया। उसने नौलखियेहार वाले के घर आकर शरण ली। रानी गर्भवती थी कालान्तर में उससे राजकुमार पैदा हुआ। वह भी सम्राट् की तरह बड़ा ही बलशाली था। बाद को उसने भी सम्राट् की तरह कई चमत्कारपूर्ण कार्य किये। यह सब बातें यहां इसलिये उद्धृत की जा रही हैं कि सम्राट् विक्रम के परिवार व जन्मस्थान व समय का पता मिल सके। अतः इन बातों को यहांपर अप्रासंगिक नहीं समझना चाहिये।

(५) 'सुदर्शन' पत्र के सम्पादक श्री माधवप्रसाद तथा श्री राधाकृष्ण ने जो विक्रमचरित संम्पादित किया है उसमें वे बताते हैं कि विक्रमादित्य यदुवंशी क्षत्रिय थे और यदुकुल की ३६ शाखाओं में से तोर नामक शाखा में उन का जन्म हुआ था। उनकी मां का नाम महिषी बताया जाता है। यद्यपि इन बातों के लिये जिस ऐतिहासिक प्रमाण की जरूरत है वह नहीं मिला है फिर भी उनकी वंशावली स्थिर करने में यह बातें सहायक सिद्ध हो सकती हैं।

वीर विक्रमादित्य के जन्मकाल का अभी ठीक ठीक पता नहीं चला है। ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने शकों पर विजयकर के विक्रम सम्वत् चलाया जो ईसा से

५७ वर्ष पूर्व का माना जाता है। अतः उनका जन्मकाल ईसा से ८०-९० वर्ष पूर्व निश्चित किया जा सकता है। उनका जन्म कहां और किस स्थान में हुआ अभी कोई प्रमाण नहीं मिला है परन्तु अन्दाज से यही सिद्ध हुआ है कि वे ईसा से ८०-९० वर्ष उज्जैन ही में राजा गन्धर्वसेन के घर रानी महिषी के पेट से पैदा हुये थे। इस सम्बन्ध शिलालेखों तथा पुराणों व संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों का गहरा अध्ययन करने की आवश्यकता है अथवा प्राचीन उज्जैन के खडहरों के अध्ययन से इस सम्वन्ध में कुछ यथार्थ बातें मालूम हो सकती हैं।

विक्रम कालीन भारत से पूर्व यहां की क्या हालत थी, देशभर में किस प्रकार त्राहि त्राहि मची थी उसका कुछ दिग्दर्शन पुराणों में मिलता है। अतः निम्न श्लोक पुराणों से तत्कालीन भारत की स्थिति को बताने के निमित्त उद्धृत किया जाता है:—

"ये त्वया देव निरता असुरा येच विष्णुना।
ते जाता म्लेच्छरूपेण पुनरद्य महीतले॥
व्यापादयन्ति ते विप्रान् घ्नान्ति यज्ञादकाक्रियः।
हरन्ति मुनिकन्याश्च पापा किं किं न कुर्वते॥
भूलोका देवलोकाश्च शश्वदाप्यायते प्रभो।
ब्राह्मणैर्हुतं मग्नौ हि हविष्तृत्प्यै दिवौकसाम्॥
म्लेच्छाक्रान्ते च भूलोके निर्वेषटकार मंगले।
यज्ञभागादिविच्छेदात् देवलोकोऽवसीदती॥"

अर्थात् हे देव! आपने और विष्णु ने जिन असुरोंका वध किया था वे पुनः म्लेच्छरूप धारणकर भूतलपर प्रकट होगये हैं। वे ब्राह्मणों को तकलीफ देते हैं। यज्ञादिक शुभ कार्य्यों को विध्वंश करते हैं और ब्राह्मणों और मुनिकन्याओं को भगा ले जाते हैं। वे पापी क्या क्या

अत्याचार नहीं करते। यह देवलोक भूलोक ही से पुष्ट होता है। ब्राह्मणों से अब अग्नि में हवि होमी जाती है तभी देवताओं की तृप्ति होती है। इन म्लेच्छों के आक्रमण से पृथ्वीतल तो क्या देवलोक भी अवसन्न हो जाता है।

उक्त बातें उन शक और हूँणों के हमलें की याद दिलाती हैं जों बड़े भयावने व खतरनाक थे और भारत से स्त्रियों व धनजन को लूट ले जाते थे, ये लोग मध्यएशीया होकर अफगानिस्थान व ईरान से भारत में धावा बोलते थे। भारतवासियों को परेशान करते थे। ये लोग यज्ञादिक सत्कर्मों में विघ्न डालते थे, प्रजा इनके भय से त्राहि त्राहि करती थी। ब्राह्मण लोग इनके भय से घबराकर देवस्तुति किया करते थे कि हे भगवन् ! विष्णु ने जिन असुरों का पहिले बध किया था वे अब म्लेच्छरूप धारणकर शक और हूँणों के रूप में पुनः भारत पर हमला कर रहे हैं। हे प्रभो ! इनसे हमारी रक्षा करो।

जव भारत में इस प्रकार हाय हाय मची थी तो करुणासागर दीनवन्धु भगवान् ने इनकी पुकार सुनी। सुनते क्यों नहीं ? गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है:—

"यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥"

अर्थात् जब जब धर्म की हानि होती है, हे अर्जुन ! मैं तब तब धर्म की रक्षा के निमित्त प्रत्येक युग में पैदा होता हूँ। यह एक एतिहासिक बात है कि सताई हुई प्रजा के रक्षा के निमित्त प्रत्येक देश व प्रत्येक युग में परमात्मा की ओर से कोई न कोई महापुरुष दैवी शक्ति लेकर पैदा होता है।

गुणाढ्य कवि ने एक जगह पर लिखा है कि भारत की ऐसी दयनीय हालत को देखकर प्रजा की करुणपुकार सुनकर गणनायक भगवान् शिव ने स्वयं विक्रमादित्य का रूप धारणकर भारतभूमि में प्रवेश किया। यह एक मानी हुई बात है और ध्रुव सत्य है कि जितने भी महापुरुष इस दुनियां में होते हैं, उनमें कुछ न कुछ दैवीशक्ति अवश्य होती है। अन्यथा वगैर दैवीशक्ति के कोई भी महापुरुष नहीं बन सकता।

सम्राट् विक्रम का बाल्यकाल किस तरह बीता, कहां उनकी शिक्षा दीक्षा हुई इस सम्बन्ध में कुछ भी प्रमाण अभीतक नहीं मिला है। हां, इतना अवश्य है कि एक राजकुमार होते हुये उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध हुआ होगा, अन्यथा साहित्य संगीत और कला का ऐसा मर्मज्ञ सम्राट् वगैर पूर्णशिक्षा प्राप्त किये ख्याति प्राप्त नहीं कर सकता था।

प्रारम्भ में यह ज्ञात हो चुका है कि उज्जयिनी में पैदा होकर विक्रम ने पहिले आसपास के छोटे छोटे राज्यों का संगठन किया। इसके बाद सुदूर दूर के राज्यों को जीतना प्रारम्भ किया। यहांतक कि उसके सेनापतियों ने जावा, सुमात्रा, सिलोन आदि देशों के राजकुमारों को आमंत्रित किया। भारत के तमाम देशों के राजकुमार उस की सेना में मौजूद थे।

'कथा-सरित्सागर' में इस बात का प्रमाण मिलता है कि सम्राट् विक्रमादित्य ने शत्रुओं को हराने के निमित्त पर्याप्त सेना एकत्र की, उन दिनों जिस प्रकार की सैन्यशक्ति की आवश्यकता थी उसके पूरे साधन उसके पास उपलब्ध थे। इतना ही नहीं, अयोध्या, पाटलीपुत्र

तथा मथुरा के राज्यों को जीतने के पश्चात् उसने शकों को देश से निकालने की ठानी और इस कार्यके लिये उसने अद्भुत सैन्य शक्ति का परिचय दिया।

कविकुल दिवाकर कालिदास ने जो सम्राट् विक्रमादित्य के अनन्य मित्र थे एक स्थानपर अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में विक्रम की सेना को लक्ष्य करके लिखा है :—

" यस्याष्टादश योजनानि कटके पादातिकोटित्रियम् ।
वाहानामयुतायुतंच नवते स्त्रिघ्नावृतिर्हस्तिनाम् ।
नौका लक्ष्य चतुष्टयम् विजयिनी यस्य प्रमाणोऽभवत् ।
सोऽयं विक्रमभूपतिर्विजयते न्यायो धरित्री तले ॥"

अर्थात् उसके पास १८ योजन में फैलीहुली कटक (सेना) थी जिसमें ३ करोड़ पैदल सेना १० लक्ष्य सवार, ९०००० हाथी तथा ४ लाख नावें थीं। यह संभव हो सकता है कि उसके पास इतनी सेना न हो और कवि ने वर्तमान युद्धजनित प्रचार मंत्रियों की भांति शत्रुओं के दिल में आतंक फैलाने के निमित्त अतिशयोक्ति से काम लिया हो। आजकल के युद्ध में प्रचार विभाग एक विशेष स्थान रखता है। इस प्रकार ऐसी ज्ञात होता है शकों के दिखाने के निमित्त उक्त श्लोक की रचना करके उसका प्रचार किया गया हो।

इस बात से दूसरा यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों शासन प्रणाली प्रजातंत्र थी और प्रत्येक व्यक्ति के लिये सैनिक बनना लाजमी था। अतः युद्धजनित यूरोपियन देशों में आजकल जिस अनिवार्य सैनिक संगठन का नियम लागू है ज्ञात होता है की देश की रक्षा के निमित्त उस प्रकार की सैनिक शिक्षा व संगठन का कानून

उन दिनों भारत में प्रचलित हो अन्यथा ३ करोड़ सेना का संगठन होना समझ में नहीं आता।

सम्राट विक्रम ने अनेक स्थानों पर अनेक शक राजाओं ने युद्ध किया। उसने वैदेशिक आक्रमणकारियों को ही परास्त नहीं किया बल्कि देश के आन्तरिक देशद्रोहियों को भी सख्त सजायें दी। इस सम्बन्ध में "ज्योतिर्विदाभरण" नामक ग्रन्थ में कुछ वर्णन मिलता है:—

"उद्दाम द्रविण द्रुमेक परशु र्लाटाटवी पावको।
वल्गद्वङ्ग भुजंग राजगरुडो गौडादि कुम्भो भवः॥
गर्ज्जद् गुर्ज्जरराज सिन्धुरहरि र्धारान्धकरार्यमा।
काम्बोजाम्बुज चन्द्रमा विजयते श्री विक्रमार्को नृपः॥"

अर्थात् महाराज विक्रमादित्य उद्भृत द्राविणराजरूपीवृक्ष के लिये कुठार, लाटदेशरूपी बन के लिये पावक, फुफकारते हुये बंगराजरूपी भुजंग के लिये गरुड, गौडदेशरूपी समुद्र के लिये अगस्त, गर्जते हुये गुर्जरराजरूप हस्तिके लिये सिंह, धारा के अन्धकार को मिटाने के निमित्त सूर्य और काम्बोज देशरूपी कमल के लिये चन्दमा हैं।

इससे स्पष्ट है कि सम्राट् विक्रमादित्यने भारत के तमाम नरेशों पर अपनी शक्ति की धाक जमादी और महाराजाधिराज की पदवी से अलंकृत होकर अन्य राजाओं को नत मस्तक करके अपनी राजधानी उज्जयिनी का गौरव बढ़ाया था। यह बातें सम्राट विक्रम के दिग्विजय की आभास मात्र हैं।

उत्तर–पश्चिम की ओर से आनेवाले शक आक्रमणकारियों का मान मर्दन करने के निमित्त मुलतान के पास जागरूर नामक स्थान में सम्राट् विक्रम का शक राजाओं से भयानक युद्ध हुआ। विशेषकर राजपूताना

के उत्तर पश्चिम की ओर शक राजाओं ने उत्पात मचा रखा था सम्राट् विक्रम ने अपनी विजयवाहिनी मदोन्मत्त सेना लेकर शकों पर धावा बोल दिया। जागरूर के पास शक लोग विक्रम की सेना से परास्त होकर जंगलों में भाग निकले। फिर कभी उन्होंने सिर उठाने की हिम्मत नहीं की। कुछेक जैनकालीन ग्रन्थों में इन युद्धों का विषद वर्णन मिलता है। विक्रम ने शकों को किस प्रकार पछाड़ा उसका कुछ वर्णन 'कथासरित्सागर' में वर्णित निम्न श्लोक से ज्ञात होता है:—

"तेनास्मिन्वसुधातले शकगणान सर्वादिशः संगरे।
हत्वापंचनव प्रमान् कलियुगे शाकप्रवृत्ति कृता॥ १॥

यो रूमदेशाधिपतिं शकेश्वरं जित्वा गृहीत्वोज्जयिनी महाहवे।
आनीय संभ्राम्य मुमोच तं त्वहो स विक्रमार्कः समसह्य विक्रमः॥२

अर्थात् इस पृथ्वी तलपर चारों दिशाओं में उसने शक राजाओं का संहार किया। उसने इस कलिकाल में ८९ वें शक राजा को मारकर अपना सम्वत् चलवाया और इस पराक्रमी सम्राट् ने रोम देश निवासी एक शक राजा को युद्ध में जीतकर उसे कैद कर लिया और उसे अपनी राजधानी उज्जैन में लाकर पुनः उसे अपनी दया पर छोड़ दिया। ऐसे महान् पराक्रमी सम्राट् विक्रमादित्य के पराक्रम को कौन बर्णन नहीं कर सकता है?

"टाड–राजस्थान" नामक ग्रन्थ में वर्णन आता है कि जब सम्राट् विक्रमादित्य शकों को परास्त करने में व्यग्र थे तो तत्कालीन इन्द्रप्रस्थ की प्रसिद्ध नगरी में कुरुवंशीय राजपाल नामक एक राजा राज्य करता था। शक अथवा शिथियन लोगों के लगातार हमलों के

कारण भारत में कई जयचन्दी भी पैदा हो गये थे। इन्हीं में से एक राजा राजपाल भी था। सम्राट् विक्रम ने इन देशद्रोहियों तथा कलह-प्रिय लोगों को सजा देना आवश्यक समझा। इसी बीच दिल्ली के अधिपति राजपाल ने उत्तराखंड में स्थित कुमाऊं के महाराज शुकवन्त पर चढ़ाई की। दोनों ओर से घोर संग्राम हुआ। अंत में शुकवन्त ने राजपाल को मार गिराया। अतः इन्द्रप्रस्थ का सिंहासन शुकबन्त के हाथ आया परन्तु विक्रमादित्य से शुकबन्त की टक्कर हुयी और शुकवन्त पराश्त हो गया और शुकवन्त की राजधानी कार्तिकेयपुर (वर्तमान कत्यूर) पर विक्रमादित्य का कब्जा होगया। इस प्रकार उत्तर में दिल्ली से लेकर हिमालय की घाटियों तक अपना राज्य विस्तार करके विक्रमादित्य ने कौशल और मगध के पराक्रमी राज्यों की विजय के निमित्त अपनी फौजें भेजी।

बौद्धों के प्रबल प्रचार तथा अत्याचार से प्राचीन अयोध्यापुरी एक प्रकार से नष्ट भ्रष्ट होगयी थी। भगवान् राम के जन्मस्थान अयोध्या नगरी की यह पतितावस्था वीर विक्रम से न देखी गयी। अयोध्या की तत्कालीन चहल पहल नष्ट होकर बौद्धों की नगरी बस्ती में परिवर्तित होगयी थी। अयोध्या में बीहड़ सूनसानी थी और श्रावस्ती में बौद्धों की हलचल। स्वधर्म और आर्य सभ्यता का प्रसारक इस बात को सहन नहीं कर सका। पतितपावनी सरयू तटपर स्थित अयोध्या की यह दुर्गति उससे सहन न हो सकी। अयोध्या के प्राचीन मन्दिर नष्टभ्रष्ट देखकर उस आर्य सभ्यताभिमानी महापुरुषने सरयू में स्नान किया। सारदा का पवित्र जल हाथ में लेकर यह भीषण प्रतिज्ञा की कि जिस प्रकार बौद्धों ने अयोध्या का सर्वनाश किया है, उसी प्रकार जबतक मैं बौद्धों की श्रावस्ती का सर्वनाश न कर डालूं तबतक

चैन से नहीं बैठूगा। उसने शीघ्र यही कार्य किया।

अपनी विजय उन्मादिनी सेना लेकर श्रावस्ती के बौद्ध राजा पर धावा बोलदिया और बौद्ध राजा को मारकर श्रावस्ती को विध्वंशित कर दिया और अयोध्या का पुनः उद्धार कर पुनः अयोध्या को कौशलकी राजधानी बनाया गया। इस प्रकार तत्कालीन बौद्ध नरेशों का वध करके उसने फिर से वैदिक सम्यता की झंडा फहरादिया। इतना ही नहीं सम्राट् विक्रम ने बौद्धों का मानमर्दन करके वाराणसी (बनारस) के पंडितवर्ग को आश्वासन दिया कि वे बौद्धों के नास्तिक धर्म के स्थानपर सत्य सनातन धर्म का प्रचार करें। राजदरबार से ऐसी घोषणा सुनकर तथा प्रोत्साहन पाकर बनारस के सनातनी पंडितों ने सारे देश में आर्यधर्म की दुन्दुभि बजादी और शनैः शनैः विक्रमकाल में बौद्धधर्म प्रक्षिप्त सा हो गया।

बहुत से इतिहासकारों की यह भी राय है कि वे इस अवसर पर अपनी दिग्विजय करते हुये बंगाल तक पहुंच गये और बंगाल में विक्रमपुर आदि जो स्थान है वे इन्हीं सम्राट् के विजयस्तंभ के चिन्ह हैं। इन्हीं विक्रम ने अयोध्या के राममन्दिर तथा बनारस के शिवमीन्दर का पुनः निर्माण कराया। सम्राट् विक्रम विशुद्ध वैदिक सभ्यताभिमानी था। परन्तु इतना होते हुये भी इनका झुकाव शैवधर्म की ओर अधिक था।

सम्राट् विक्रमादित्य अतुल साहसी व प्रबल पराक्रमी था। असंख्य सेना के होते हुये थी यदि सम्राट् के अन्दर दुर्बलता हो तो वह विजयी नहीं हो सकता। विक्रम के अन्दर अतुल बल था। उसकी भुजायें शत्रुओं का मर्दन करने को फडकती रहती थीं।

आजकल की भांति पूर्वकाल में राजा लोग समरांगण से दूर छिपे नहीं रहते थे परन्तु राजा लोग युद्धभूमि में खड़े सैन्यसंचालन करते थे तथा शत्रु को आव्हान देते थे। सम्राट् विक्रम के अतुल शौर्य और साहस का इसी से पता चलता है कि शत्रु के कैम्प में भी वे अकेले भ्रमण करते थे।

'बृहत्कथा' में एक घटना का जिक्र आया है जिसमें कहा गया है कि एक सन्यासी एक दिन महाराज विक्रम के दरबार में उपस्थित हुआ और उसने महाराज को एक फल भेंट किया। महाराजा से उसे राज दरबार में रखे जाने का आदेश किया। कुछ काल बाद एक दिन राजा ने स्वयं वह फल बानर को खिला दिया। ज्योंही उस बानर ने उक्त फल तोड़ा तो उसमें से एक रत्न निकला। राजा को उसे देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन महाराज ने उस सन्यासी को राज दरबार में बुलाकर उसका कारण पूछा। तब ब्राह्मण ने कहा कि मेरे पास सभी प्रकार के फलों में ऐसे रत्न हैं। यदि आप मेरी सहायता करें तो मैं ऐसे ही रत्न लाकर दूँ। वास्तव में सन्यासी का उद्देश्य महाराज को श्मशानघाट में लेजाकर उनकी वेताल को बलि चढ़ाकर अपनी मंत्रसिद्धि करना था परन्तु ऐसा पराक्रमी कब छद्मवेशी सन्यासी का शिकार बन सकता था? अतः सम्राट् विक्रम ने सन्यासी की बात स्वीकार करली।

एक दिन अमावास्या की अन्धकारपूर्ण घोररात्रि में वह संन्यासी तथा महाराज विक्रम श्मशानघाट पर गये। सन्यासी के कहने पर विक्रम ने एक पेड़ में बंधी हुयी मृतव्यक्ति की लाश बांधकर उठाली और उसे कंधे में लेकर रवाना हुआ। वेताल राजा का साहस देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने सन्यासी का सारा भेद उससे खोल

दिया। इस बीच में बेताल राजा को कहानियां सुनाता जाता और अन्त में राजा से न्याय करने को कहता था। जब राजा अपना फैसला दे देते तो वह बेताल फिर उसी पेड़ पर जा लटकता। महाराज फिर वापिस जाते और उसे बांधकर उसी प्रकार ले आते। ऐसा २५ बार हुआ और बेताल ने २५ कहानियां महाराज को सुनायीं। यही कहानियां 'बेताल पच्चीसी' नामक ग्रन्थ के नाम से विख्यात हुयीं। आखिर सन्यासी को बलि देकर विक्रमने स्वयं बेताल सिद्ध कर लिया। इसे देखकर बेताल बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को वर दिया कि मुसीबत पड़ने पर तुम मेरा स्मरण करना और मैं तत्काल तुम्हारी सहायता को उपस्थित होऊंगा। यही कारण है कि सम्राट् विक्रम सदा ही विजयी रहे। मुसीबत के समय वह बेताल का स्मरण करते और बेताल उनकी मदद करता।

चाहे इस आख्यायिका में कुछ यथार्थता हो अथवा नहीं परन्तु इतना अवश्य है कि बौद्धों के संसर्ग से तत्कालीन भारत में तांत्रिकवाद को प्रोत्साहन भी मिला। अतः यह संभव हो सकता है कि विक्रम ने तंत्रसिद्धि के लिये इस मार्ग पर चलने का अनुसरण किया हो और इसी से शक्ति प्राप्ति की हो। इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है कि सम्राट् विक्रम के अन्दर महान् गुण विद्यमान थे। वह बड़ा निडर शूरवीर, शक्तिशाली और प्रतापवान सम्राट् था। उसने अपने अदम्य उत्साह से एक बार फिर से भारतवर्ष में वैदिक धर्म का उद्धार कराया।

महाराज विक्रमादित्य ने यद्यपि कई देश जीते परन्तु उज्जयिनी को ही अपनी राजधानी बनाया। अभीतक इस बात का पता यहीं चला है कि सम्राट् विक्रम से उज्जैन नगर को ख्याति मिली। इसका कुछ आभास 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ के निम्न श्लोक से ज्ञात होता है:—

" मद्राजधान्युज्जयिनी महीपुरी ।
सदा महाकाल महेश योगिनी ॥
समाश्रित प्राण्यपवर्गदायिनी ।
श्री विक्रमार्कोऽवनि यो जयत्यपि ॥ "

अर्थात् जिस महाराज विक्रम की राजधानी उज्जैन जैसी महानगरी में हो और जहांपर हमेशा महेश महाकाल अपने गणोंसहित निवास करते हों ऐसी महापुरी में जहां लोगों को सदा ही आश्रय मिलता हो ऐसी पृथ्वीतल की उस धरती पर बसनेवाले सम्राट् विक्रम की सदा जय बनी रहे।

महाभारत के युद्ध के पश्चात् भारत का राज्य चार बड़ी रियासतों में विभाजित हो गया था। इनमें इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों के वंशज राज्य करते थे। द्वारका में यदुवंशियों का राज्य था। अयोध्या में रघुवंशी राज्य करते थे और मगध में जरासंध के वंशजों का राज्य था। कई शताब्दियों तक ये राज्य चलते रहे परन्तु कालान्तर में जब मौर्य साम्राज्यवादियों ने बौद्धधर्म को अपनाया तो उक्त आर्य्य साम्राज्यों की आभा फीकी पड़ने लगी। बौद्ध लोग दिन प्रतिदिन प्रबल होते गये और पाटलीपुत्र का नगर सारे भारतवर्ष का राजनैतिक केन्द्र बन गया। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिये कि बौद्धों के प्रताप के कारण उक्त तीनों राष्ट्र पाटलीपुत्र के सामने भिखारी बनकर सभ्यता और संस्कृति की भिक्षा मांगने लगे। परन्तु पहिले बताया जा चुका है कि बौद्धों का यह अभ्युत्थान तथा मगध राज्य की शान शौकत वीर विक्रम ने वैशाली और पाटलीपुत्र को जीतकर धूल में मिलादी। और अब पाटलीपुत्र मालवा का एक सूबा मात्र रह गया। राजधानी हटकर पाटलीपुत्र से उज्जैन में आ गयी।

राजनैतिक केन्द्रस्थान बनने के बाद उज्जयिनी अब केवल एक साम्राज्य की नगरी ही नहीं थी। यह व्यापार और कलाकौशल से समृद्ध धनवानों की विलास नगरी बन गयी थी। इतना ही नहीं विक्रम की इस महानगरी की गणना अब हरिद्वार और प्रयाग की भांति भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में होने लगी थी।

गरुड़ पुराण में तत्कालीन उज्जयिनी के सम्बन्ध में जो जिक्र आया है उसमें उसकी गणना भारतवर्ष की प्रसिद्ध सप्तपुरियों में की गयी है:—

" अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

अर्थात् अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्ती अथवा उज्जैनपुरी तथा जगन्नाथ व द्वारका में सात प्रसिद्ध तीर्थस्थान उस काल में मौजूद थे जिनका भ्रमण तथा पर्यटन मात्र मोक्षदायक समझा जाता था। अवंतिका नगरी को यह ख्याति विक्रमकाल ही में मिली थी।

उज्जैन का वर्णन करते हुये "ज्योतिर्विदाभरण" नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर लिखा है:—

" तस्मिन सदा विक्रम मेदिनीशे,
विराजमाने समवन्तिकायाम्।
सर्व प्रजा मण्डल सौख्य सम्पद्,
बभूव सर्वत्र च वेद कर्म॥"

अर्थात् उस पृथ्वीपति विक्रमादित्य के उज्जैन में निवास करने तथा उसे अपनी राजधानी बनाने के कारण संपूर्ण प्रजावर्ग में आनन्द

प्राप्त होने लगा। सर्वत्र सम्पदा विराजमान होने लगी। स्थान स्थान पर वेदकर्म होने लगे। इसी आशय का जिक्र कथा सरित्सागर में आया है। कहने का अभिप्राय यह है कि विक्रम के राजकाल में उज्जैन में सर्वत्र सुखसम्पदा भरपूर हो गयी और प्रजावर्ग सुख से अपने दिन बिताने लगी।

मेघदूत ग्रन्थ में कविवर कालिदास ने उज्जयिनी का निम्न वर्णन किया है:—

"वक्र पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां।
सौधोत्संङ्ग प्रणय विमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः॥
विद्युद्दाम स्फुरित चकितै स्तव्ध वाराङ्गनानां।
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोऽसि॥"

अर्थात् उज्जयिनी के महल इतने सौन्दर्यपूर्ण हैं कि मेघ भी वहां पर टेढ़ा मेढ़ा होकर घूमता है..............। यदि बिजुली की चमक से चकाचौंध वाराङ्गनाओं के राजप्रासादों में स्थित युवतियों के चंचल कटाक्षों और नेत्रों ने वहां के आगन्तुक यात्रियों को नहीं आकर्षित किया तो यह समझना चाहिये कि वे यात्री स्वयं अपनी आंखों द्वारा ठगे गये हैं।

इस प्रकार के हावभावपूर्ण वर्णन उज्जायिनी की प्रतिष्ठा को बढ़ाते हैं और इससे यह सिद्ध होता है कि उस काल में बिजुली का प्रयोग होता था। इसी बिजुली के प्रयोगों से सुसज्जित, महान् अट्टालिकाओं से भरपूर, धनधान्य से पूरित यह नगर इन्द्रकी वैभवपुरी के सदृश रहा होगा।

अन्य एक स्थल पर कविवर कालिदास ने मेघदूत में अवन्ति नगर का निम्न वर्णन दिया है:—

"प्राप्यावंती उदयनकथा कोविद ग्राम वृन्द्धान् ।
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्री विशालाम् विशालाम् ॥
स्वल्पीभूते सुचरित फले स्वर्गिणां गां गतानां ।
शेषै पुण्यै हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ॥"

अर्थात् उस समय गांव के आबाल वृद्ध इस कथा का बड़े मनो-विनोद से जिक्र करते थे कि किस प्रकार वत्सराज उदयन प्रद्योत कुमारी वासवदत्ता को चुरा के ले भागे । विशाल नगरों में विशाल ऐसी इन्द्रपुरी की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता । यह विशाल सम्पत्तिशाली उज्जैन नगरी स्वर्ग के एक भाग के मानिन्द थी । मानों पृथ्वी में आये हुये स्वर्गीय लोगों के शेषपुण्य इसे स्वर्ग से पृथ्वीपर बुला लाये हों । इस प्रकार उज्जयिनी का वर्णन करते हुये कवि लोगों ने अपना चातुर्य दर्शाया है ।

कालिदास तथा अन्य कवियों ने तत्कालीन उज्जैन की जो महिमा गायी है उससे कई संस्कृत के ग्रन्थ भरे पड़े हैं । संक्षिप्त में इतना कहा जा सकता है कि उज्जैन ने विक्रमकाल में आशातीत उन्नति की ।

विक्रम का वैभव दान व शौर्य

सम्राट विक्रम का दरबार बड़े ठाठबाठ का तथा राजसी था। ये दरबार सदा विद्वानों से भरपूर गुणीजनों से सुसंपन्न तथा शूरमाओं से ओतप्रोत रहता। इसके प्रसिद्ध दरबार में देशभर में प्रसिद्ध विक्रम के 'नवरत्न' रहते थे। इनका वर्णन फिर किया जावेगा। साथ ही साथ विक्रम के प्रसिद्ध राज्य सिंहासन का भी जिक्र किया जावेगा। यहांपर केवल इतना ही बताया जाता है कि विक्रम का राजदरबार कितना ख्यातिप्राप्त था। देशभर के संपूर्ण राजे महाराजे उस दरबार में उपस्थित रहते थे और सम्राट् विक्रम को अपना मंडलेश्वर समझकर अपना फर्ज अदा किया करते थे। पंडितवर्ग, ज्योतिपाचार्य, वैद्यकगण सभी प्रकार के आचार्यों का उस राज दरबार में यथानुकूल मान था। नवरत्नों की तो इतनी ख्याति थी कि बाद में कितने ही उपाधिधारी विक्रमों के राज दरबारों में विक्रम के माफिक नवरत्न बनाये जाने की एक परम्परा सी हो गयी। यही कारण है कि हम सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य तथा सम्राट् भोज विक्रमादित्य के दरबारों में भी कालिदास तथा नवरत्न मंडली को ठीक उसी तरह पाते है जैसे २००० पूर्व वाले विक्रम के समय में। कहीं २ पर तो इन में बहुत भ्रम फैल गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक सम्राट् को जिस २ प्रकार के विद्वानों की आवश्यकता होती है वे सभी प्रकार के गुणीजन वहांपर मौजूद रहते थे। इसी महाराज की शान शौकत का वर्णन 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ में निम्न प्रकार से किया गया है:—

अष्टौ यस्य शतानि मण्डल धराधीशाः सभायां सदा।
स्युः संसत्परिणाह कोटि सुभटाः सत्पंडिता षोडश॥
दैवज्ञा दश पण्डिताश्च भिषजो भट्टास्तथाढङ्गिनो।
वेदज्ञा रस चन्द्रमा विजयते श्री विक्रमः सोऽधियः॥"

अर्थात् जिसके दरबार में ८००० मंडलेश्वर सदा विराजमान रहते थे और करोड़ों योधा जिसकी सभा में उपस्थित रहते थे। १६ योग्य पंडित और १० ज्योर्तिविंद व १० वैद्य तथा १६ वैदिक विद्वान् सदा उस सम्राट् विक्रम के दरबार में उपस्थित रहते थे।

इन सब बातों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि उस सम्राट् विक्रम का दरबार हर प्रकार से योग्य और विद्वानों से परिपूरित रहता था। तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन से यही ज्ञात होता है कि उज्जयिनी नगरी में उन दिनों बड़ी चहल पहल रहती थी। देश २ के विद्वान् वहां जाकर बस गये थे और अनेक प्रकार के योद्धा और साहित्यप्रेमी विक्रम के दरबार को सदा ही समलंकृत किया करते थे। महाराज विक्रम की दानशीलता के विषय में भी इसी पुस्तक में एक अन्य स्थल पर वर्णन आया है कि वे अनन्य दानी थे ओर उन्होंने माणि मोतियों के दान से धर्म को सुवर्णका बना दिया था।

'प्रबन्ध चिंतामणि' पुस्तक में जैन पंडित श्रीमेरुत्तुंगाचार्य ने लिखा है सम्राट् विक्रमादित्य ने अपने राजकोषाध्यक्ष को यह आर्डर दे रखा था यदि—"कोई आप्त पुरुष मेरे द्रष्टिगोचर हो तो उसे १ हजार मुद्रा दो, संभाषण होने पर १० हजार मुद्रा दो, उसकी बातों से हंसने पर एक लक्ष्य तथा उसकी बातों से संतोष हो जाने पर एक कोटि मुद्रा उसे दी जावे।"

साहित्य से सम्राट् विक्रम का इतना अधिक प्रेम था कि एक बार का जिक्र है कि द्वारपाल ने आकर सम्राट् से निवेदन किया कि हे राजन्! एक भिखारी चार श्लोकों की रचना करके लाया है और आप से मिलना चाहता है। वह द्वार पर बैठा है। यदि आज्ञा हो तो उसे आने दिया जाय अन्यथा उसे बाहर कर दिया जाय।

सम्राट्ने उत्तर दिया— "उसे १० लक्ष्य रुपये तथा १४ प्रमाण पत्र दे दो। फिर उसकी इच्छा है चाहे अंदर आवे अथवा बाहर जावें।"

'प्रबन्ध चितामणि' नामक ग्रन्थ के १२ वें पृष्ठ पर श्लोक आया है:-

सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परियोषितः॥

अर्थात् हे राजन्! पंडित लोग यह झूँठ कहते हैं कि आप सर्वदा सर्वदानी हैं। क्योंकि न तो आपने कभी शत्रुओं को पीठ दिखायी और न परस्त्रियों को छाती।

सम्राट् विक्रम के यश का वर्णन करते हुये एक कवि कहता है हे राजन्! सरस्वती आप के मुंह में है और लक्ष्मी हस्तकमल में स्थित है। तब हे राजन्! क्या कीर्ति आपसे कुपित होकर ही आपका यशगान करने को देशान्तरों में चली गयी है? अर्थात् कीर्तिदेवी आपसे कुपित होकर स्वदेश से विदेशों में जाकर भी आपके ही गुणों का प्रचार करती है।

एक अन्य स्थल पर व्यङ्गोक्ति करते हुये कवि सम्राट् विक्रम से प्रश्न करता है कि हे राजन्! आपने यह अपूर्व धनुर्विद्या कहां सीखी जो मार्गणौघ (बाण अथवा याचकों का समूह) आप की ओर से जाता है और गुण (इतर अर्थ में धनुष की प्रत्यंञ्चा) दिगन्त में प्राप्त

होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि याचकगण धनुष के बाणों की नाई आपसे कुपित होकर अथवा विदा होकर आप के गुणों का देश देशान्तरों में प्रचार करते हैं।

सम्राट् विक्रमादित्य ने प्रायः सभी क्षेत्रों में ऐसे ऐसे कार्य किये हैं जो कोई दूसरा करने में समर्थ न हो सकता था। उनके दान, धर्म तप, त्याग के सम्बन्ध में ऐसी ऐसी आख्यायिकायें मशहूर हैं जिससे बड़े बड़े ग्रन्थ भरे पड़े हैं। सम्राट् विक्रम जिस प्रकार वीर थे उसी प्रकार के धार्मिक तथा मार्मिक भी थे। सभी क्षेत्रों में उनकी अद्वितीय ख्याति थी। उनकी महत्ता तथा श्रेष्ठता सर्वोत्तम है।

एक दिन का जिक्र है कि जब सम्राट् विक्रम अपनी राजधानी के बाहर उज्जयिनी का भ्रमण कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि सामने एक तेली कोल्हू का बैल हांकता हुआ प्राकृत भाषा में कुछ शब्द उच्चारण कर रहा है:—

"अम्माणि ओ सन्देश ऽ ओ तारय कन्ह कहिअ।"

अर्थात् तू हमारे संदेश को भगवान् कृष्ण के पास कह देना।

सम्राट् विक्रम विद्वान् और तत्वदर्शी तो थे ही। इन्होंनें उन शब्दों का पता लगाना चाहा और दूसरे रोज उस तेली को दरबार में बुलवाकर पूछा कि तू वह कौन सा सन्देश कृष्ण के पास भेजना चाहता था? इस प्रश्न पर उसने उक्त संदेश का निम्न अन्तरा कह सुनाया:—

"जग दालिद्दिहि डुब्बिकं बलि बन्धण ह मुईअ।"

अर्थात् संसार दरिद्रतामें क्यों डूबता है? और बलि जैसा दानी राजा क्यों नहीं यहां भेजा जाता? तेली की उक्त बातें सुनकर

सम्राट् विक्रम ने उसकी सारी मुसीबतें दूर करदीं और उसका कर्जा चुकाकर उसे धनधान्य से पूरित कर दिया।

सम्राट् विक्रम के उदार और दयालु स्वभाव होने की कई कहानियां संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में मिलती हैं। विशेष कर 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में तो इनका अधिकांश हिस्सा पाया जाता है। कहते हैं कि एक दिन सम्राट् विक्रम अपने मित्र भटमात्र के साथ भ्रमण को निकले। इस तरह चलते चलते वे लोग रोहिणाचल पर्वत के समीप प्रवर नामक नगर में पहुंचे। वहां उन्होंने एक कुम्हार के घर में जाकर डेरा किया। प्रकरणवश जब बातें होने लगीं तो कुम्हार ने बताया कि यदि कोई व्यक्ति हाथ में कुदाल लेकर रोहिणाचल पर्वत में चला जाय और वहां पहुंचकर महापुरुषों का स्मरण कर मस्तक पर हाथ रखकर "हा दैव!" इस शब्द का उच्चारण करे और कुदाल से जमीन पर मारे तो उसे बहुमूल्य रत्न मिलेगा। भटमात्र को कुम्हार की ये बातें सुनकर लालच हुआ और उसने महाराज विक्रम से वहां चलने का आग्रह किया परन्तु साथ ही वह महाराज विक्रम से ऐसा दीनता का कार्य भी नहीं करवाना चाहता था।

अन्त को भटमात्र ने एक तदबीर सोची और दूसरे रोज जब दोनों घूमते घूमते रोहिणाचल पर्वत के समीप पहुंचे तो भटमात्र ने एकाएक कहा—

महाराज! आज उज्जैन से एक व्यक्ति समाचार लाया है कि राजमाता का स्वर्गवास हो गया है। सम्राट् ने माता की मृत्यु का यह कष्टदायक समाचार सुनकर कुदाली फेंकदी और 'हा दैव!' कहकर बैठ गये। उनका यह कातर शब्द सुनकर उसी समय पहाड़ में से एक

रत्न निकल आया जिसे भटमात्र ने स्वीकार किया। अब दोनों घर को लौट चले। मार्ग में भटमात्र ने महाराज विक्रम को सच्चा हाल बता दिया। इस घटना को सुन सम्राट् विक्रम भटमात्र पर बहुत बिगड़े और मार्ग से उल्टे पांव लौटकर पहाड़ के उसी स्थान पर जा पहुंचे और उस रत्न को वहीं फेंक दिया। इसके बाद उन्होंने स्वयं निम्न श्लोक की रचना करके पर्वत को धिक्कारा:—

धिग् रोहणं गिरिः दीन दारिद्र्य व्रण रोहणम्।
दत्ते हा दैव मित्युक्ते रत्नावार्थि जनाय यः॥

अर्थात् दीनों के दारिद्र्यरूपी घाव में रोहण करनेवाले रोहण पर्वत को धिक्कार है! जो याचकों से 'हा दैव' कहलाकर रत्न देता है।

यद्यपि यह बात केवल कपोलकल्पित हो सकती है और चाहे हम ऐसे ही इस की यथार्थता पर विश्वास न करें परन्तु एक रत्न को पाकर उसे त्याग देना और पर्वत को याचना करवाने के निमित्त धिक्कारना यह केवल विक्रम जैसे दानी और पराक्रमी पुरुष का कार्य हैं और सर्व साधारण की बात नहीं।

सम्राट् विक्रम के पराक्रमी होने का एक कारण यह भी बताया जाता है कि उन्होंनें बेताल सिद्ध किया हुआ था। कहते हैं कि विक्रम से पूर्व अवन्ति नगरी में राजा लोग अधिक दिन जीवित नहीं रहते थे। ज्यों ही कोई राजा गद्दी पर बैठा उसे बेताल मार देता था। इस प्रकार बेताल के त्रास से सारा देश व सब नगर उजड़ गये थे। वीर विक्रमादित्य ने गद्दीपर बैठते ही यह सोचा कि किसी न किसी तरह पहिले बेताल का ही साधन करना चाहिये। ज्यों ही राजा का राज्याभिषेक

हुआ त्यों ही वेताल का सन्देश आया कि वह बलि के लिये तैयार रहे। राजा ने अपनी स्वीकृति भेज दी। प्रातःकाल नियत समय पर जब बेताल को राजा की बलि दी जाने का समय हुआ तो राजा ने बेताल के लिये तरह २ के मिष्टान्न तैयार करवा रखे थे। ठीक समय पर जब राजा को लेने बेताल आया तो विक्रम ने तैयार किये हुये कई मिष्टान्न बेताल के सामने रख दिये और बेताल ने भरपेट भोजन किया और इससे बेताल राजा पर बड़ा प्रसन्न हुआ और राजा की बलि लेना भूल गया। अब रोज राजा इसी प्रकार बेताल को नये २ मिष्टान्न देता और दिन प्रति दिन दोनों की मित्रता बढ़ती गयी। अब बेताल से राजा ने पूछा कि आप कौन हैं ? तो बेताल ने उत्तर दिया कि मैं इन्द्र का प्रतिहार अग्निरूप बेताल हूँ। इस प्रकार उसका पूरा परिचय लेकर विक्रम ने उससे मित्रता चालू रखी।

इस प्रकार बहुत दिन बीत गये। दोनों की मित्रता बढ़ती गयी। एक दिन प्रकरणवश विक्रम ने बेताल से पूछा कि मेरी आयु कितनी है ? पहिले, तो बेताल ने बताने में आनाकानी की परन्तु विक्रम के जोर देने पर उसने कहा कि मैं इन्द्रराज से पूछकर इसका उत्तर दूंगा। दूसरे दिन जब फिर उनकी भेंट हुयीं तो फिर बेतालने कहा कि तुम्हारी आयु १०० वर्ष की है।

विक्रम ने दुबारा प्रश्न किया—"क्या आयु कम या ज्यादा भी हो सकती है" ?

बेताल पुनः दूसरे रोज इसका उत्तर इन्द्र से पूछकर आया और महाराज विक्रम से कहा कि आयु का कम अथवा ज्यादा होना संभव नहीं है। कोई भी प्राणी किसी की भी आयु को घटा बढ़ा नहीं सकता। जब वीर विक्रमादित्य को यह निश्चय हो गया तो दूसरे

रोज से उसने बेताल को भोजन देना बन्द कर दिया। इस पर बेताल को बड़ा क्रोध हुआ। वीर विक्रम भी लड़ने को बैठा था। दोनों में काफी मल्ल युद्ध हुआ! अन्त को विक्रम बेताल को पछाड़-कर उसकी छाती पर चढ़ बैठा! हार खाने पर बेताल को वीर विक्रमका पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुयी। उसने अन्त में विक्रम को वर दिया कि हे विक्रम! आज से मैं तुम्हारा सच्चा मित्र हूँ। मुझे तुम्हारा साहस देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुयी है। इसलिये जब कभी मुसीबत में तुम मेरा स्मरण करोगे मैं तुम्हारी सहायता के निमित्त उपस्थित रहूंगा। उस दिन से बेताल विक्रम के वशमें हो गया और वह आजीवन उसकी सहायता करता रहा। इसकी सहायता लेकर विक्रम ने भी बड़े बड़े कार्य्य सम्पादित किये।

इस आख्यायिका में भी बहुत कुछ कपोल कल्पित बातें हो सकती हैं परन्तु सच्चाई इस बात की है कि बेताल नामक कोई महाँ-बली पंडित तथा योगी हो सकता है और साथ ही योद्धा भी। ऐसे महापराक्रमी व्यक्ति पर विजय करके उसकी सहायता द्वारा आगे का कार्य करना विक्रम जैसे दूरदर्शी सम्राट् के लिये अवश्य बांछनीय हो सकता है।

प्रजा के सुख के हितार्थ सम्राट् विक्रम ने कोई बात न छोड़ रखी थी। प्रजा को सुखी बनाना तथा प्रजा का कष्ट दूर करना उसका एकमात्र ध्येय था। कहते हैं कि प्राचीन काल में यह आख्यायिका मशहूर थी कि केवल वही व्यक्ति 'विक्रमादित्य' का नाम धारण कर सकता है जो अपनी प्रजा का सारा ऋण चुकादे। सम्राट् विक्रम ने भी अपनी प्रजा का सारा ऋणमोचन कर दिया। अतः पीछे के

नामधारी विक्रमों ने भी इसकी देखा देखी प्रजा का ऋणमोचन करना अपना कर्तव्य समझा और विक्रम उपाधि धारण करने के पूर्व यह कार्य आवश्यक समझा जाता था। प्रजा का कर्ज उतारने तथा उसके सुख के हेतु सम्राट् ने उज्जैन में एक कीर्तिस्तंभ की स्थापना करनेका इरादा किया और सारे नगर में यह घोषणा करवादी कि प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट होनेपर विक्रम के दरबार में उसकी फरियाद की जाय।

प्रजा की रामकहानी अथवा आपबीती जानने के निमित्त सम्राट् विक्रम स्वयं रात के समय नगर व राज्य में भ्रमण करते और घरघर जाकर यह देखते थे कि कौन उनके सम्बन्ध में क्या राय रखता है। अतः एक रोज रात्रि के समय प्रजा का हाल जानने के निमित्त सम्राट् विक्रम एकाएक वेश बदलकर शहर में घूमने को निकल पड़े। जब मार्ग में एक चौराहे पर पहुंचे तो वहांपर उन्होंने दो उद्दण्ड सांड़ों को लड़ते हुये देखा। उन दोनों की आपसी टक्कर से बचने के लिये महाराज एक गोशाला के काष्ठस्तम्भ पर चढ़ गये। भाग्यवश, सांड भी लड़ते २ वहीं आ पहुंचे जहांपर महाराज बचाव के निमित्त खड़े थे। इतना ही नहीं, दोनों सांड़ उस काष्ठस्तम्भपर अपने सीगों से प्रहार भी करने लगे। इसी बीच में पास में रहनेवाला एक ब्राह्मण अपनी निद्रा से जागकर बाहर आया और उसने गगनमण्डल की ओर नक्षत्र-गणों को निहार कर अपनी ब्राह्मणी को जगाया और कहा—"देखो! चन्द्रमण्डल कैसी भयानक दशा में दीखता है! इस दशा को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस राज्य के सम्राट् विक्रम के प्राण संकट में पड़े हुये हैं। अतः इसका शीघ्र उपाय होना चाहिये। महाराज की रक्षा के निमित्त होम की सामग्री लाओ और हम होम करके सम्राट् का कष्ट निवारण करेंगे और उनके प्राण बच जावेंगे।"

इस पर ब्राह्मणी ने उत्तर दिया—"जो राजा पृथ्वी को तो अनृणा करने को जाता हो परन्तु हमारी सात कन्याओं के विवाह को कुछ भी न देता हो उसका शांति कर्म करके दोष से छुटकारा करना अच्छा नहीं। तो भी आप की आज्ञा है अतः होम करके उसका संकट टालना चाहिये।"

ब्राह्मणी की उक्त बातें सुनकर कहते हैं कि सम्राट् विक्रम ने अपने दान के स्मारक स्वरूप जो कीर्तिस्तंभ बनाने का निश्चय किया था, वह विचार छोड़ दिया गया। साथ ही सम्राट् विक्रम के आत्माभिमान का भी मानमर्दन हो गया। तब से वे संसार से एक प्रकार से विरक्त होते गये। एकाएक उस समय उनके हृदय से प्राकृत भाषा में जो उद्गार निकल पड़े उनको यहां पर उद्‌धृत किया जाता है:—

कट्टं काऊं मुत्तं च साहसं मइलिऊं च अप्पाणं।
अजरामरं न पत्तं हा विक्कम हारिओ जम्मो॥

अर्थात् सम्राट् विक्रम कहते हैं कि मैंने सोचा था कि मैंने संसार में बहुत कुछ दानधर्म कर लिया है परन्तु मैंने प्राणियों के दुःख तथा आवागमन का कभी विचार नहीं किया।

इस घटना के बाद सम्राट् विक्रम एक प्रकार से अवश्य विरक्त हो गये थे।

भगवान् श्री रामचंद्र जब रावण का वध करके सीता सहित अयोध्या लौटे तो उनका राजतिलक हुआ। प्रजा की करुणकथा जानने के निमित्त श्रीरामचन्द्रजी ने भाई लक्ष्मण को नगर में भेजा। लक्ष्मणजीने सीता के सम्बन्ध में फैली हुयी अफ़वाह का धोबी के यहां का जो रूप देखा, और जिस घटना से पुनः सीताजी को दुबारा बन

में जाना पड़ा ठीक उसी प्रकार सम्राट् विक्रम का भी अब राज्य से दिल हट गया ऐसा इस सम्बन्ध में ज्ञान होता है।

उक्त घटना से यह भी पता चलता है कि आज से २००० वर्ष पूर्व विक्रम काल में राजा और प्रजा के बीच एक प्रकार से बड़ा गहरा व घनिष्ट सम्बन्ध था। राजा के ऊपर कष्ट आया हुआ देखकर उक्त ब्राह्मण परिवार का उस संकट को हटाने के निमित्त यज्ञ करना यह बतलाता है कि प्रजा कितनी राजभक्त थी और सम्राट् विक्रम के प्रति प्रजा के क्या भाव थे। अर्थात् प्रजा राजा के हित का सदा से ध्यान रखती थी।

दूसरी बात इससे यह प्रकट होती है कि उक्त ब्राह्मण, आकाश मंडल में ग्रहों की गति देखकर तथा चन्द्रलोक के अन्दर दृष्टि डालकर सम्राट् विक्रम के ऊपर आये हुये पापग्रहों का फल जान लेता है। अतः यह बात इस घटना को प्रमाण करती है कि विक्रमकाल में गणितशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र–दोनों फलित तथा गणित ज्योतिष–सर्वोच्च शिखर पर पहुंचे हुये थे और उस गणित के आधार पर न केवल वर्तमान की ही घटनायें बतायी जा सकतीं थीं परन्तु भविष्य की बातों की ओर भी संकेत किया जा सकता था।

भविष्यपुराण में विक्रमादित्य की वंशावली के सम्बन्ध में कुछ जिक्र आता है। कहते हैं कि शालिवाहन नाम के राजा जिन्होंने शकाब्द का प्रचार किया, सम्राट् विक्रमादित्य के पौत्र थे। यथाः—

> "एतस्मिंनंतरे तत्र शालिवाहन भूपतिः।
> विक्रमादित्य पौत्रश्च पितृराज्यं गृहीतवान्॥
> जित्वाशकान् दुराधर्षान् चीन तैत्तिरि देशजान्।
> बाल्हिकान्कामरूपांश्च रोमजान्खुरजां छटान्॥

तेषां कोषां गृहीत्वाय दण्डभोग्यान्कारयत् ।
स्थापिता तेन मर्यादा म्लेच्छार्याणां पृथक् पृथक् ॥
सिन्धु स्थान मितिज्ञेयं स्परमार्यस्य चोत्तमम् ।
म्लेच्छस्थानं परंसिन्धोः कृतं तेन महात्मना ॥"

यहांपर पाठक उक्त श्लोकोंका शब्दार्थ न लगाकर केवल भावार्थ ढूढें।

कुछ लोगों की यहभी धारणा है कि सम्राट् विक्रमादित्य शकाब्द प्रचारक एक राजा के हाथों मारे गये। बहुतों का मत है कि वे शालिवाहन से युद्ध करते हुये मारे गये परन्तु इन दोनों बातों में कोई भी घटना सच्ची नहीं है। सम्राट् विक्रम का अन्त स्वयं अपनी मौत से हुआ। जिस प्रकार विक्रम सम्वत् के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेकानेक मत हैं इसी प्रकार शकाब्द प्रचारक शालिवाहन के सम्बन्ध में भी कई धारणायें हैं। इतिहास में भी शालिवाहन के कई नाम मिलते हैं। इनको शालिवाहन, शालवाहन सालवाहण. सालवाहन सालाहणहाल तथा सातवाहन नामों से इतिहास में संकेत किया गया है। अभी तक इस बात का पता नहीं लगाया जा सका है कि ये नाम एक ही राजा के हैं अथवा भिन्न २ राजाओं के। इस सम्बन्ध में विस्तृत ढूढ खोज की जाने की आवश्यकता है।

'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक पुस्तक में इस सम्वन्ध में जो घटना वर्णित है उसके अनुसार यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि दक्षिण के महाराष्ट्र देशमें प्रतिष्ठानपुर नामक एक ग्राम था। एक बार वहांपर २ परदेशी अपनी विधवा बहिन साथ में लिये हुये वहां पधारे। वे लोग एक कुम्हार के घर में जाकर ठहरे। जब उन मुसाफिरों की बहिन जल लाने के निमित्त गोदावरी नदी के तटपर गयी तो वहांपर किसी

नागवंशी राजकुमार की उस पर नजर पड़ी और उस ने उस विधवा से बलात्कार किया। जाते समय वह नागवंशी राजकुमार यह भी कहता गया कि अगर तुमको कभी मुसीबत पड़े तो तुम मेरा स्मरण करना और मैं वहां पहुंच जाऊंगा। कालान्तर में जब उसके भाईयों को यह घटना मालूम हुयी कि वह गर्भवती है तो वह उसे वहीं छोड़कर चले गये। जब उस विधवा के पेट से बच्चा पैदा हुआ तो वह बड़ा तेजस्वी और पराक्रमी निकला। कहते हैं कि बालकालमें वह लड़का मिट्टी के खिलोंनों की फौज बनाकर उनसे खेलता और स्वयं सम्राट् वनकर सैन्य संचालन करता था। अन्त को वही बालक सातवाहन अथवा शालीवाहन नाम से विख्यात हुआ।

इस कथा की यथार्थता का पता लगाने को यद्यपि हमारे पास प्रमाण नहीं है फिर भी शालिवाहन नामक राजा की उत्पत्ति अगर इस प्रकार हैं तो वह अवश्यही पराक्रमी राजा हुआ है। इसकी यथार्थता के लिये और गहरी छानबीन करने की जरूरत है।

एक वार की घटना है कि जब सम्राट् विक्रम ने समस्त भारत को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया तो उसने अपने ज्योतिषियों से पूछा—" क्या इस भूमण्डल में कोई शत्रु मेरे से अधिक बली है?" ज्योतिषियों ने उत्तर दिया—" हे राजन्! दक्षिण देश के प्रतिष्ठानपुर में कुम्हार के घर एक बालक है जो आप से भी वलिष्ट हैं। इस बात को सुनकर सम्राट् बिक्रम ने मय अपनी सारी फौज लेकर दक्षिण देश के प्रतिष्ठानपुर पर चढ़ाई की। इस पर उस बालक की माता ने भयभीत होकर उस नागराजकुमार का स्मरण किया। उसके स्मरण करते ही उस विधवा को एक सुवर्ण कलश तथा भारी शक्ति मिल गयी। एकाएक उसके पुत्र के सारे खिलोने सजीव होकर एक विशाल सशस्त्र

सेना के रूप में परिवर्तित हो गये। इसके बाद जब दोनों फौजों में लड़ाई हुयी तो सम्राट् विक्रम को वहां से हार खाकर भागना पड़ा। अन्त में दोनों में सन्धि हुयी। अतः यह वही शालिवाहन हैं जिसने अपनी विजय मनाने के निमित्त शक सम्वत् का प्रचार किया।

इस आख्यायिका में हमें सचाई नहीं मालूम पड़ती हैं क्योंकि शक सम्वत् विक्रम सम्वत् से १३५ वर्ष बादका है। अतः सम्राट् बिक्रम और शालिवाहन में युद्ध होना और इस प्रकार की कथानक का बनाया जाना कपोलकल्पित मालूम होता हैं। यह बात सत्य हैं कि शक अथवा श्रीमच्छालीबाहन शक सम्वत् भी अभी बगाली पंचांग में उसी प्रकार माना जाता है जिस प्रकार विक्रम सम्वत्।

'गाथा सप्तशती' के मुताविक सातवाहन हाल तथा सातकर्णि नाम के जिन राजाओं का वर्णन आता है, वे विक्रम की ही भांति बड़े वीर, आर्य धर्मावलम्बी और वैसे ही प्रतापी राजा थे जिन्होंने शक यवन तथा पाल्हवों से युद्ध करके उनका नाश किया था और सातवाहन वंश की कीर्ति पताका फहराई थी। अतः इस सम्बन्ध में यह कल्पना करना कि शालिवाहन राजा उस विधवा के पुत्र थे जिसे उस के भाई प्रतिष्ठानपुर में छोड़ गये थे गलत है। शालिवाहन के नामों तथा उनके सम्बन्ध में अधिक समय बीतने के कारण कुछ न कुछ हेर फेर हो जाना आवश्यक है। इसीलिये सम्राट् शालिवाहन के सम्बन्ध में भी अधिक छानवीन की जाने की आवश्यकता है।

जैनियों के धर्मग्रन्थों में लिखा कि बुढ़ापे के समय सम्राट् विक्रम का शरीर बहुत क्लिष्ट और दुर्बल हो गया था। उनको विशेष करके बुढ़ापा दुखकर प्रतीत होने लगा था। शरीर को बहुत यातनायें

होने लगी थीं। कई उपचार किये गये परन्तु रोग बढ़ता ही गया। कहते हैं कि एक दिन एक वैद्य के कहने पर आपने कौवे का मांश खाना आरम्भ किया ताकि इससे शरीर का कष्ट निवारण हो सके। इससे भी आप का कष्ट दूर नहीं हुआ। प्रतिदिन नये २ वैद्याचार्य आते और इलाज करते थे। जब इस प्रकार के इलाज से रोग व कष्ट दूर न हुये तो एक धर्माचार्य वैद्य ने आपको सलाह दी कि " इस अन्तकाल में केवल धर्म ही आपके रोग की अमोघ औषधि है। अतः आप धर्म करें क्योंकि इससे शरीर को शान्ति मिलेगी और आप की व्यथा दूर होगी। काक मांश खाकर शरीर को सुख नहीं मिल सकता। मनुष्य के सुख का साधन केवल धर्म ही है। " कहते हैं कि इस वैद्य की बातें सुनकर सम्राट् को बड़ा आनन्द हुआ और उनकी शारीरिक पीड़ा भी दूर होने लगी। आप ने इस वैद्य को पुष्कलमात्रा में धन दौलत दे कर बिदा किया।

बीमारी के कुछ शिथिल होने पर आपने अपने तमाम राज-कर्मचारियों को तथा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाया और उन्हें धार्मिक उपदेश और कर्तव्याकर्तव्य समझाया। इसके बाद उन्होंने तमाम याचकों को धन, वस्त्र, अन्न, हाथी, घोड़े दान देकर एकान्तवास करना चाहा और एक स्वच्छ व एकान्तस्थान में चले गये। प्राणोत्कर्ष के समय वैदिक क्रिया के अनुकूल जिन २ धार्मिक कर्मों का वर्णन हैं आपने उनका पूर्णरीति से अनुष्ठान किया और कुशों का आसन बिछाकर भगवत्भक्ति में लीन हो गये। कहा जाता है कि जब उन्होंने प्राणवायु विसर्जन करनी चाही तो तत्क्षण एक नासिकाहीन किन्तु परमसुन्दरी रमणी सामने आकर खड़ी हो गयी। सम्राट् ने शांति से उसकी अंगहीनता का कारण पूछा। उसने उत्तर

दिया--"मैं नवनिधियों की अधिष्ठात्री देवी हूँ। आप ने अपने जीवन में एक निधि का भी पूर्ण दान नहीं किया इससे आप से दान की याचना करने आयी हूं।"

महाराज ने उत्तर दिया-"यदि मुझे ऐसा ज्ञात होता तो सब निधियां एक ही दिन में बंटवा देता। अब तुम सब निधियों को ले जाओ।"

महाराज विक्रम की उक्त बातें सुनकर उस अंगहीना देवी को अत्यन्त संतोष हुआ और उसने कहा-"हे राजन्! इस कलिकाल में आप जैसा न तो कोई दानी महापुरुष हुआ हैं और न होगा। अतः आप अब शांति लें।"

इसके बाद वह अंगहीना देवी अन्तर्धान हो गयी।

तत्पश्चात् ब्रह्ममुहुर्त आरंभ होने पर सम्राट् वीर विक्रम ने कुशाओं के आसन पर राजर्षियों की भांति, वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुये इस असार संसार से विदाली। आप के निधन का समाचार सुन-कर सारे नगर में कोलाहल मच गया। सारा साम्राज्य शोक-संतप्त हो गया। ज्ञात होता हैं कि सिप्रा के किनारे आपका अन्येष्टि किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज से २००० वर्ष पूर्ण पृथ्वी के इस भू-भाग में इस महान् दिग्विजयी सम्राट् ने शत्रुओं का वध करके पुनः वैदिक सभ्यता का झंडा फहराकर प्रजा का पालन किया था; नहीं, प्रजा की सेवा की थी। आज भी इस भूखंड में ऐसे ही प्रजा के सेवक सम्राटों की आवश्यकता है। इस महान सम्राट् के जीवन से आज भी हम यही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। एक साधा-

रण गणतंत्र राजकुल में पैदा होकर असंख्य सैन्य का संगठन करके अपने भुजाओं के बलपर शत्रुओं का मान मर्दन करनेवाले ऐसे सम्राट् के प्रति आज २००० वर्ष के बाद हम जो भी श्रद्धाञ्जलि भेंट करें वह थोड़ी है। इस सम्राट् के जीवन की चर्चा हमारे अन्दर नयी शक्ति का संचार करती है, उसके जीवन की झांकी हमारे लिये एक गर्व की वस्तु है, जीवन में नयी जाग्रति व नयी स्फूर्ति देती है तथा हमें अपने मातृभूमि के प्रति अपने कर्तव्य की याद दिलाती है। ऐसे सम्राट् को हम साष्टांग अपनी श्रद्धांजलि आर्पित करते हैं।

सम्राट् विक्रम १०० वर्ष जिये थे। यदि उनका जन्म ईसा से ८०-९० वर्ष पूर्व हुआ था तो ईसा की प्रथम शताब्दि के आरंभ में उनकी मृत्यु हुअी।

वीर विक्रम तथा उपाधिधारी विक्रम

(१) सम्राट् वीर विक्रम

राजा गन्धर्वसेननें उज्जयनीको अपनी राजधानी बनाकर उस नगरका उत्थान करना आरम्भ किया। राजा गन्धर्वसेनके दोनों राजकुमार भर्तृहरि और विक्रम विद्या और बलमें अतुल पराक्रमी और जगत प्रसिद्ध हो गये थे। जब राजकुमार भर्तृहरिको वैराग्य हो गया तो उन्हों ने गद्दी छोड़दी। राजा गन्धर्वसेनका देहान्त हो चुका था। अत: वीर विक्रमको उज्जैनकी गद्दी फिरसे सम्हालनी पड़ी। विक्रमके राजसिंहासनपर बैठतेही उज्जैन नगर इतना प्रसिद्ध और धन धान्यसे इतना भरपूर हो गया कि लोग उसकी कुबेरके नगरसे तुलना करने लगे। आजकल जिस स्थानपर महाकालेश्वरका मन्दिर है। सम्राट् विक्रमने उस स्थान के चारों ओर एक बिशाल कोट बनवाया था। 'फरिस्ता' नामक एक पारसी इतिहासकार लिखता है कि विक्रमका वह किला १०० गज ऊंची दीवारों से बना हुआ था। आज भी इस ऐतिहासिक गढ़का २४ खंभी दरवाजा उस महान् सम्राट्की स्मृतिको चिरस्थायी बनानेके लिये उज्जैनमें मौजूद है। २००० वर्ष बीत चुके; समयके हेर फेरमें कई राजाओंके आक्रमणोंका मुकाबिला करता हुआ,

जल वायु तथा प्रकृतिके झोंकोंको सहता हुआ यह २४ खंभी दरवाजा उन्नत मस्तक होकर महाकालेश्वरके मन्दिरके सामने मुस्कराता हुआ अब भी यह याद दिलाता है कि सम्राट् विक्रम जिन्दा है और उसकी अन्तरात्मा पुकार २ भारतवासियोंको प्राचीन कालके गौरव की स्मृति की याद दिला रही है!!

सम्राट् विक्रम ने महाकालेश्वर के मन्दिर को स्थापित करके उसको बहुत अधिक विस्तृत किया, उस शैव मन्दिर की महत्ता बढ़ाने के निमित्त उसे अनेकानेक राजचिन्होंसे अलंकृत किया गया। सम्राट् सब धर्मोंका आदर करते हुए भी शैव था और शैव धर्म के लिये उसने बहुत कुछ धन व्यय करके राज्य की ओर से प्रोत्साहन दिया था। कहा जाता है कि सम्राट् विक्रम की शैवभक्ति को देखकर तत्कालीन उज्जैन के नागरिकों ने इसी महाकालेश्वर के विशाल मन्दिरके आंगन में सम्राट् विक्रम की एक स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की थी। बहुत दिनों तक यह प्रतिमा विक्रम के न्यायस्वरूप इस मन्दिर सें बनी रही। बाद को संभव है मुसलमानी शासनकाल में इसे यहां से हटा दिया गया हो।

विक्रमके शासनकालमें सिर्फ उज्जैन ही नहीं बल्कि भारतके अन्य नगरों ने भी चरमोन्नति प्राप्त की। इन्हींके राज्यकालमें भारतमें कई महान् विभूतियां उदय हुयीं। विशेषकर वीर विक्रमके साहित्य संगीत तथा कलाके प्रेमको देखकर सुदूरदूरसे साहित्य मर्मज्ञ, कविगण तथा कलाकार उज्जैनमें आकर बसने लगे। तत्कालीन उज्जैन भारत का वैसा ही नगर था जैसा आजका युद्धसे पूर्व लंडन नगर था। दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि उस विक्रमकालमें उज्जैन विद्या, विक्रम और वित्तका केन्द्रस्थल था।

यथार्थ में वीर विक्रम सर्वगुणसम्पन्न था। वह शूर वीर होते हुये भी धर्मरक्षक व प्रजावत्सल भी था। वह अत्यन्त उच्चकोटि का विद्वान तथा साहित्य संगीत व कला की प्रतिमा था। उसमें केवल चरम सीमा की विद्वत्ताही नहीं थीं बल्कि वह गुणीजनों का ग्राहक भी था और योग्यतानुसार उन सब का आदर सत्कार किया करता था।

हालकृत "गाथा सप्तशती" तथा सोमदेव भट्टकृत "कथा सरित्सागर" में इस पराक्रमी सम्राट् का जो कुछ जीवन चरित्र मिलता है वह अत्यन्त रमणीय है और उससे उसकी गुणग्राहिता की परिधि मालूम होती है। अन्य कई ऐतिहासिक पुस्तकों में भी विक्रम के सम्बन्ध में कई मूल्यवान् बातें मिलती हैं। भारतीय जनता इस राजा को न्याय की मूर्ति धर्मराज समझती थी। विक्रम का न्याय व सिंहासन जगतप्रसिद्ध वस्तुयें हैं। इनपर फिर प्रकाश डाला जावेगा। यह निश्चित बात है कि जो राजा गुणग्राही हो, न्यायी हो उसे प्रजा अवश्य चाहती है।

यह बड़े दुःखका विषय है कि सम्राट् विक्रम जैसे पराक्रमी, पर-दुःखभंजक, प्रजाभक्त व दीनबन्धुके विषयमें वर्तमान भारतीय समाज-को बहुत कम ज्ञान है। उसका जीवन केवल कपोलकल्पित दंतकथा ओंका गढ़ा हुआ केवल मनोविनोदकी एक सामग्रीमात्र नहीं है। अभीतक विक्रमके सम्बन्धमें अधिकांश भाग अन्धकारसे आवृत्त है। वह कौन था, कहां पैदा हुआ, कैसे उसने सैन्यसंगठन किया, किस प्रकार शकों से लड़ा, कैसे देशकी चरमोन्नतिकी, ये प्रश्न हैं जिनकी ओर अभी इतिहासकारोंका ध्यान आकृष्ट हो रहा है। यह भी प्रसन्नताकी बात है कि २००० वर्ष बीतनेके बाद अब भारतवासियोंका आखें खुली हैं। स्थान २ पर विक्रम द्विसहस्राब्दि उत्सव मनाये जाने लगे

हैं। यह सब शुभ चिन्ह हैं। आशा है कि अब विक्रमकालीन इति-हासकी पूरी छानबीन हो सकेगी।

जहांतक देखा गया है अधिकांशमें अंग्रेज इतिहासकारोंने गुप्त-कालीन सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय को जिसने विक्रमकी पदवी धारण की थी, असली विक्रमादित्य माना है, परन्तु यह बात सही नहीं है और सर्वथा भ्रमपूर्ण है। वीर विक्रम और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भिन्न २ हैं। इनके काल में करीब ४०० वर्षका अन्तर है।

डाक्टर फ्लीट साहबका मत है कि यद्यपि मालवेमें विक्रम सम्वत् ईसासे पूर्व प्रचलित था परन्तु इसे असली साल गणनाका रूप चन्द्र-गुप्त द्वितीय अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी विजयके बाद दिया। यूरोपके विद्वान् इतिहासकारों ने भारतके इतिहासकी गहराई में प्रवेश करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। अभीतक विक्रम के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में भी तीव्र मतभेद है। इसका कारण यह है कि परा-क्रमी सम्राट् वीर विक्रम के बाद कई अन्य सम्राटों ने विक्रम की उपाधि धारण की और उनके तथा विक्रम के जीवन में सामंजस्य होने के कारण यंथार्थ बात का पता नहीं लगाया जा सकता है।

यूरोप के अधिकांश विद्वान ईसा से पूर्व होने वाले इस पराक्रमी विक्रम को कपोलकल्पित समझते हैं। परन्तु इतिहास की सच्चाई को वे नहीं मिटा सकते। राज्य, धन, सम्पदा, किले, साहित्य, सब नष्ट हो जाते हैं परन्तु सम्वत् गणना एक ऐसी वस्तु रही है जो आक्रमणों का सामना करती हुई अभीतक बनी हुई है। यह अकाट्य प्रमाण है कि आज से २००० वर्ष पूर्व सम्राट विक्रमादित्य हुआ और उसने अपनी विजय को स्मरण करने के निमित्त अपना सम्वत् चलाया अथवा लोगों

ने ऐसे सम्राट् के चिरस्मरणार्थ उसकी यादगार में उसका सम्वत् चलाया।

अभीतक कितने विक्रम हुये हैं? इतिहास में विक्रम नाम धारण करने की प्रथा पर कौन से राजाओं ने विक्रम की उपाधि धारण की इसके लिये निम्न विक्रमों में भेद रखना आवश्यक है:—

(१) सम्राट् विक्रम (ईसासे पूर्व प्रथम शताब्दिमें)

(२) सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ईसा की चौथी शताब्दिमें)

(३) सम्राट् हर्षवर्धन विक्रमादित्य (ईसा की छठी शताब्दिमें)

(३) परमारवंशीय राजा भोज उर्फ विक्रमादित्य (ईसा की ११ वी शताब्दिमें)

(५) आचार्य हेमू उर्फ विक्रमादित्य (ईसा की १६ वीं शताब्दिमें)

(६) महाराणा विक्रमादित्य (ईसा की १७ वीं शताब्दिमें)

(७) कुमार देवीचन्द उर्फ विक्रमादित्य (ईसा की १८ वीं शताब्दिमें)

शकारि सम्राट् वीर विक्रमादित्य तथा हूणारि सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यमें प्रायः सभी बातोंमें सामञ्जस्य है परन्तु दोनों पृथक २ हैं एक नहीं। एकतो २००० वर्ष पुरानी बात है। दूसरा अंग्रेज इतिहास-कारोंका कहना है कि दोनों एक हुये। इसलिये भविष्यके इतिहास लेखकोंको बडी सावधानीसे छानबीन करनेकी जरूरत है कि कौन २ विक्रमादित्यने क्या क्या कार्य किया और कौन २ लोग उनके सम-कालिन थे। इन बातोंको दृष्टिगोचर करते हुये दोनोंकी भिन्नताका सहजही में पता लग जाता है। सबसे बुरी बात यह है कि अंग्रेज

लेखकोंकी देखादेखी भारतीय लेखक भी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयको ही वीर विक्रम बताते हैं परन्तु यह बात सर्वथा अमान्य होनी चाहिये।

सम्राट् वीर विक्रम का कुछ जीवन शुरू में दिया जा चुका है। अब यहांपर गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का कुछ जीवन चरित्र दिया जाता है ताकि उसके जीवन से विक्रम के जीवन की तुलना व भिन्नता की जा सके। इसके बाद अन्य उपाधिधारी विक्रमों का भी थोड़ा २ जीवन चरित्र दिया जावेगा।

(२) सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के दो लड़के थे। एक का नाम रामगुप्त तथा दूसरे का नाम चन्द्रगुप्त द्वितीय था। इन राजकुमारों की मां का नाम दत्तदेवी थी। कुछ लेखों में चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम देवराज भी कहा गया है। वाकाटक शिलालेखों में इसको देवगुप्त भी कहा गया है। इसके जन्मकाल की ठीक निश्चित तिथि नहीं दी जासकती किन्तु अनुमान से ज्ञात होता है कि इसका जन्म ईसाके ३६० वें वर्ष के आसपास हुआ होगा। जब सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु हुई थी तब राजकुमार चन्द्रगुप्त बाल्यावस्था में था। पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ राजकुमार रामगुप्त गद्दीपर बैठा। परन्तु वह बड़ा कमजोर था। उसने शकों से युद्ध किया परन्तु हार गया और अन्त में अपनी रानी और राजकुमार शत्रुओं को बन्धक रखकर सन्धि करनी चाही।

'मजुमल तवारीख' में जो कथा वर्णितकी गयी है उसके अनुसार रामगुप्त अथवा रवालने जब शत्रुओंके सामने आत्मसमर्पण कर दिया तो चन्द्रगुप्त अथवा बाकमारीसने रामगुप्तकी पत्नी ध्रुवदेवी का रूपधारणकर शत्रुपक्षमें जाना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, उक्त इतिहासकार लिखता है, बाकमारीस अथवा चन्द्रगुप्त स्त्रीका रूपधारण कर शक

राजाके सामने गया और उसे एकान्तमें लेजाकर उसका बधकर डाला। इसके बाद उनकी फौजें शत्रुओंपर टूट पड़ी और शक सेना भाग निकली अथवा मारी गयी।

कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि रामगुप्त राज्यसिंहासन को न सम्हाल सका। अतः चन्द्रगुप्तने अपने बड़े भाई रामगुप्तकी हत्या करवाकर स्वयं राज्यसिंहासन ले लिया और अपने बड़े माई की पत्नीसे शादी करली। इसमें सचाई हो या नहीं कि उसने बड़े भाईकी हत्या की अथवा वह स्वयं मर गया परन्तु इस बातको इतिहासकार मानते हैं कि उसने ध्रुवदेवीसे शादी की।

सन ३७५ में जब सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु हुई थी तब चन्द्रगुप्त की अवस्था केवल १५-१६ वर्ष की थी। उनके बड़े भाई तब गद्दीपर बैठे थे परन्तु ५ साल के अन्तर्गत उनकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। अतः सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासनकाल ईसा से ३८० वर्ष में आरंभ होता है और ४१२ ईस्वीतक लगातार ३२ वर्ष तक इस सम्राट् के एकछत्र राज्य करने का इतिहासों में पता मिलता है।

स्तंभलेखों तथा शिलालेखों में भी सम्राट् चन्द्रगुप्त के इस बीच में शासन करने का जिक्र मिलता है। मथुरा के स्तंभलेख, उदयगिरी के गुहालेख, गढ़वा (प्रयाग) के शिलालेख तथा सांची और महरौली के लोहस्तंभो के लेखों से भी यही बात ज्ञात होती है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८० से ४१२ ईस्वीतक राज्य किया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की दो रानियां थी। एक का नाम कुबेरनागा था जो दक्षिण के नागवंश के सम्राट् की राजपुत्री थी। इस की राजकुमारी का नाम प्रभावती था और इसका विवाह बाकाटक

राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। दूसरी रानी का नाम ध्रुवदेवी था जो इसकी पहिले भातृपत्नी थी और इसकी गोद से कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त का जन्म हुआ था।

सम्राट् वीर विक्रम की मृत्यु के पश्चात् तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभ्युत्थान के बीच ऐसा ज्ञात होता है कि उज्जयनी का राज्य सिंहासन क्षत्रपवंशी शकों के हाथ में रहा इस वंश में लगभग २२ राजे हुये और इन्होंने इस्वीसन् ७९ से लेकर ई० ३९० तक लगभग ४०० वर्ष तक ऊज्जैन, मालवा व गुजरात में राज्य किया। परन्तु चौथी शताब्दि के आरंभ में गुप्त साम्राज्य के उदय होते ही सम्राट् समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त ने इन शकों को मार भगाया। शकोंका शासन उसी प्रकार अत्याचारी था जिस प्रकार पीछेसे मुसलमानी राज्य शासन। परन्तु चन्द्रगुप्त वीर होनेके कारण इन विदेशियोंके अत्याचारोंकों नहीं सहनकर सका। अतः उसने इन शकों को मालवा और गुजरातसे भगाकर अफगानिस्तानके उस पार वलखकी घाटीतक खदेड़ दिया। इन शकोंको परास्त करनेमें सम्राट् चन्द्रगुप्त ने साम, दाम, दंड, भेद चारों प्रकारकी नीति अख्तियारकी। यद्यपि गुप्त साम्राज्यका उदय पाटलीपुत्रमें हुआ था परन्तु चन्द्रगुप्तने पाटलीपुत्रसे अपनी राजधानी हटाली इसका उद्देश्य यह था कि वह अपनी राजधानीको उज्जैन बनाकर राज्यको केन्द्रीभूत कर सकें।

सम्राट् चन्द्रगुप्त बिक्रमादित्य परमवैष्णव था। शिलालेखोंमें इस सम्राट्को 'परम भागवत' लिखा गया है। परन्तु इसके माने यह नहीं समझलेना चाहिये कि वह परमवैष्णव होता हुआ भी अन्य मतावलम्बियोंका आदर नहीं करता था। उसने वैष्णवधर्मकी रक्षा करते हुये शैव तथा बौद्ध धर्मोको बराबर सम्मान दिया। इसक राज्यकालमें

एक बौद्ध अफसरके नियुक्त लिये जानेका जिक्र मिलता है। चिनी यात्री फाहियानने इस सम्राट् चन्द्रगुप्तकी सहिष्णुता तथा दानशीलता का खूब परिचय दिया है। कहते हैं कि इस सम्राट्ने अपने नामके आगे अनेक पदवियां धारण की हुयी थी। शिलालेखोंमें इसे विक्रमांक, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र, सिंहविक्रम आदि पदवियोंसे विभूषित पाया गया है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी सम्राट् वीर विक्रमकी भांति बड़ा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था क्योंकि इसने दक्षिण पूर्व व पश्चिमके समस्त आर्यवंशीय राज्यपरिवारोंसे रिश्ता जोड़कर शकोंको भारतसे भगानेमें उनकी सहायता ली थी। इस महान् सम्राट्की कीर्ति दूर दूर तक व्याप्त थी।

वीर विक्रम की भांति चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी गुणीजनोंका बड़ा अनुरागी था। कुछ लोगोंका मत है कि कालिदास प्रभृति नवरत्न इसी विक्रमादित्यकी सभाके नवरत्नों में से थे परन्तु हम इस बातको स्वीकार नहीं करते। हां, यह मान सकते हैं कि इस सम्राट्के दरबारमें भी कालीदास आदि अन्य नामधारी नवरत्न रहे हों क्योंकि सम्राट् चन्द्रगुप्त अपनेको भी वीर विक्रमकेही पद चिन्होंपर चलनेके योग्य समझता था।

गुप्तवंशीय सम्राट् विशुद्ध वैष्णव थे। सम्राट् समुद्रगुप्त ने कई अश्वमेध यज्ञ किये। इसी प्रकार हूणोंपर विजय पानेके निमित्त भी सम्राट् चन्द्रगुप्तने कई अश्वमेध यज्ञ किये। इसी प्रकारके एक अश्वकी मूर्ति बनारसके दक्षिण नगवा ग्राममें पाया गई है। इस मूर्तिमें 'चन्द्रगुप्त' अंकित है। यथा—

यस्यो द्वर्त्तयतः प्रतीय युत्सा शत्रून्समें यागता। न्वङ्गेषाइव वर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिभुजे तीर्त्वासप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः यस्याद्यावधि वास्यते जलनिधि वीर्यानिले दक्षिणः॥

वीर विक्रमादित्य और चन्द्रगुप्त बिक्रमादित्य में भिन्नता यह है कि एक ईसा से पूर्व शताब्दि में हुआ था दूसरा चौथी शताब्दि में। एक शैव था दूसरा वैष्णव। चन्द्रगुप्त गुप्त साम्राज्य का मालिक था किन्तु वीर विकम एक गणतंत्रराज्य का अधिपति था। अथवा आजकाल की गणतंत्र अथवा डेमोक्रैसी के मानिन्द उज्जैन की गणतंत्र सम्राट् का अधिपति था। वीर विक्रम महान त्यागी था, वह योगी था। वह जमीन पर कुशासन बिछाकर सोता था। अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को एक साधारण व्यक्ति की भांति सीमित रखता था, परन्तु सम्राट् चन्द्रगुप्त एक साम्राज्य के अधिपति की भांति बड़े ठाठबाट से रहता था और जिसके राजसी मान और मर्यादा की चीनी यात्रीने काफी चर्चा की है।

दोनों सम्राटों में अधिक बातें सामञ्जस्य की हैं। दोनों क्षत्रियवंशी थे और दोनों आर्य सभ्यताभिमानी हिन्दू धर्मके पोषक थे। दोनों ने अपने २ समय में शकों के बलवान जत्थे पंजाब से निकालकर बाहर किये और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य शकों के अन्तिम जत्थे से लड़ा और उसने हूणों को बलख तक खदेड़ा। इस प्रकार दोनों विक्रमादित्यों का जीवन चरित्र अलग है, भिन्न है, एक नहीं।

(३) सम्राट् हर्षवर्धन विक्रमादित्य

इसा की छटी शताब्दि में भारत में एक और महान् सम्राट् विक्रम हो गया है। यह तीसरा सम्राट् उपाधिधारी विक्रम है। सम्राट्

हर्षवर्धन थानेश्वर के पास श्रीकण्ठ इलाके के सम्राट् थे। कहते हैं कि किसी समय इस वंश में पुष्पभूति नाम के एक राजा हुये थे। एक दिन इस राजा को एक महात्मा मिले। उन्होंने राजा से कहा कि मैं बेताल सिद्धि करना चाहता हूं अतः मेरी सहायता करो। नियत समयपर उक्त महात्मा ने राजा की सहायता से बेताल पर सिद्धि प्राप्त करली। अतः बेताल ने प्रसन्न होकर राजा को वर दिया कि तुम एक महान् राजवंश के निर्माता होगे। ठीक ऐसा ही हुआ। सम्राट् हर्ष इन्हीं राजा के वंशज हैं।

सम्राट् हर्ष के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन था। माता का नाम यशोवती था। उक्त दोनों राजा और रानी भगवान् सूर्य के बड़े भक्त थे। नित्यप्रति उनकी पूजा व अर्चना किया करते थे। अन्त में उनकी यह अर्चना सफल सिद्ध हुयी। एक दिन रानी यशोवती ने एक विचित्र स्वप्न देखा। स्वप्न में वह 'परित्रायस्व' 'परित्रायस्व' अर्थात् रक्षा करो, रक्षा करो, कहकर चिल्ला उठीं। राजा ने उसे जगाकर घबराहट का कारण पूछा। रानी ने घबराकर कहा—"मुझे ऐसा स्वप्न दीखा है कि सूर्य मंडल से कुण्डल कवचधारी अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित अत्यन्य प्रतापशाली दो राजकुमार इस पृथ्वीतल पर उतर रहे हैं और उनके साथ एक कन्या भी है और उन्होंने शस्त्र से मेरा पेट चिरकर उसमें प्रवेश करना चाहा है। मैं इस से घबरा गयी हूं।" राजा ने रानी का स्वप्न सुनकर उसे सांत्वना दी और कहा कि यह स्वप्न मांगलिक है। यह हर्ष का विषय है न कि विषाद का।

स्वप्न अनुमानतः सत्य निकला। रानी के गर्भ से कालान्तर में दो राजकुमार और एक राजकुमारी पैदा हुयें। राजकुमारों का नाम क्रमशः राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन तथा राजकुमारी का नाम राज्यश्री

रखा गया। बाणकवि के कथानानुसार जब ज्योतिषियों ने इनकी जन्मकुण्डली देखी तो हर्ष की कुण्डली में इन्हें चक्रवर्ती सम्राट् होने के लक्षण दृष्टिगोचर हुये। इनके बालकाल के विषय में बहुत कम बातें ज्ञात हुयी हैं। परन्तु इतना मालूम हुआ है कि इनके मामा का लड़का भण्डि तथा मालवा नरेश के दो राजकुमार कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त भी उनके साथ रहे थे। इन सब में हर्ष विशेष प्रतिभाशाली था। उसने बालकाल ही में जिस विद्वता तथा गुणग्राहकता का परिचय दिया है उससे ज्ञात होता हैं कि इनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। बाणकवि ने हर्ष की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में लिखा है:—

स्वल्पीय शैवकालेन द्वीपान्तरेष्वपि प्रकाशतां जग्मतुः

अर्थात् हर्ष ने किञ्चितकाल ही में द्वीप द्वीपान्तरों में ख्याति प्राप्त करली।

हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन ने हूणों के विरुद्ध लड़ने के लिये राजा बालादित्य को सहायता दी थी। अतः कुछ काल बाद प्रभाकर वर्धन के सम्बन्ध में लिखा पाया गया है:—

हूण हरिण केसरी सिन्धुराज ज्वरो गुर्जर प्रजागरो गान्धारा धिपगन्ध द्वीपकूट पालको मालव लक्ष्मी लतापरशु।

अर्थात् वे हूणरूपी हरिण के लिये सिंह, सिन्धुराज के लिये ज्वर समान, गुर्जरों की नींद नष्ट करने वाले गान्धारनरेशरूपी महत हाथी के लिये अंकुश और मालव की लक्ष्मीरूपी बेल के लिये कुठार रूप थे।

सम्वत् ६६१ में राजा प्रभाकर ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को एक सेना देकर पश्चिम दिशा में हूणों से लड़ने के लिये भेजा। आगे राज्यवर्धन फौज लेकर जाते थे पीछे २ हर्षवर्धन मृगया करने के निमित्त

बढ़ने थे । कैम्प में एक रात्रि को हर्षवर्धन ने एक भयंकर स्वप्न देखा जिसमें उन्हें एक सिंह दावानल में जलता हुआ दिखायी दिया और साथ में सिंहिणी भी अपने बच्चों को छोड़कर सिंह के प्रेमके वशीभूत हो आग में कूद रही है । अस्तु, प्रातःकाल होतेही इस कुस्वप्न का तत्काल फल मिला । घर से राजदूत आया कि राजा प्रभाकर तीव्रदाह से प्रकोपित हैं । अतः हर्ष शीघ्र घर को लौटे । नगर में प्रवेश करते ही एक और कुशकुन हुआ । उन्होंने देखा कि एक मनुष्य यमराज का चित्र हाथ में लेकर निम्न श्लोक का पाठ कर रहा है:—

" मातापितृ सहस्त्राणी, पुत्रदार शतानिच ।
युगयुगे व्यतीतानी, कस्यते कस्य वा भवान ॥"

अर्थात् युग युग में सहस्त्रों माता पिता, पुत्र, स्त्री होते रहते हैं परन्तु वे किस के हैं और आप किस के हैं ? अर्थात् किसी का किसी के साथ स्थिर सम्बन्ध नहीं रहता है ।

राजभवन में प्रवेश करतेही हर्ष ने देखा कि एक उषण—अन्धे वैद्य—राजा की चिकित्सा कर रहे हैं परन्तु रोग बढ़ता ही जाता है । रानी यशोवती ने देखा कि वृद्धावस्था में वैधव्य बनना अच्छा नहीं अतः वे राजाकी मृत्युसे पहिले ही चिता बनाकर जल मरीं । रानी की मृत्यु सुनकर राजाको अधिक शोक हुआ और बीमारी बढती गयी । उन्होंने हर्ष को बुलाकर " निरवशेषतां शत्रुबो नमोः " अर्थात् 'शत्रुओं का पूर्णतया नाशकर देना चाहियें' का उपदेश देकर परलोक सिधारे । इस बीच राज्यवर्धन भी युद्ध से लौट आये । पहिले तो उन्होंने राज्य गद्दी लेना अस्वीकृत कर दिया परन्तु मंत्रियों के समझाने पर राजी हो गये । इस बीच में एक और विपत्ति सामने आयी । मालव नरेश ने

स्वतंत्र होकर कन्नौज पर चढ़ाई कर दी और इनके बहनोई गृहबर्मा मारे गये। बहिन राज्यश्री कैद करली गयी। अब राज्यवर्धन के विचारों में कुछ परिवर्तन आया। उन्होंने निश्चय किया कि:—

इयमेव तावद्वलकल गृहणमिदेव तपः शोकापगेया
पायश्चामयैव यदत्यन्ता विमीतानि ग्रहः"

अर्थात् अत्यन्त बलवान् शत्रु का निग्रह ही बल्कल ग्रहण है, यही तप है, यही शोक दूर करने का उपाय हैं।

तब राज्यवर्धन ने १०,००० फौज लेकर मालवा नरेश पर धावा किया और उसे पराजित किया। परन्तु इस बीच फिर गौड़ नरेश शशांङ्क ने छल कपट से राज्यवर्धन पर विश्वास जमाया और उनकी हत्या कर डाली। हर्षवर्धन पर और भी विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। परन्तु इस बीच इनके पिता के पुराने सेनापति सिंहनाद ने इनका साथ दिया और मंत्रीगणों की सलाह से हर्ष गद्दी पर बैठे। सम्वत ६६३ में हर्ष ने एक नया सम्वत् चलाया। हर्ष के सामने अभी दो मुख्य काम थे। एक तो शशांङ्कका वध करना। दूसरा राज्यश्री का पता लगाना। इस बीच में राज्यश्री अपनी सखियों समेत शत्रु के कारागार से भागकर विन्ध्याचल के जंगलों में थी। हर्ष ने व्याघ्रकेतु के मार्फत राज्यश्री का पता लगाया। वह भी चिता बनाकर जलने को तयार थी। परन्तु व्याघ्रकेतु के समझाने पर उसने सन्यासिंन बनकर रहना स्वीकार कर लिया।

बाण कवि ने एक स्थानपर लिखा है:—

अङ्गनवेदी वसुधा कुल्याजलधिः स्थलीचपातालम्।
वाल्मीकश्च सुमेरूः कृत प्रतिज्ञस्य वीरस्य॥

अर्थात् दृढ़प्रतिज्ञ वीर के लिये पृथ्वी घर का आंगन, समुद्र छोटी सी नदी, पाताल स्थल और सुमेरु पर्वत वल्मीक का सा जान पड़ता है। हर्ष के लिये यही कहावत चरितार्थ थी। उन्होंने शशांक को हराने की घोरप्रतिज्ञा की और अन्त को उसे हराकर अपने राज्य में मिला लिया। इसके वाद इन्होंनें प्राचीन राजाओं की तरह दिग्विजय की घोषणा की। इस प्रकार ३६ वर्ष तक सम्राट् हर्ष बराबर शत्रुओं से युद्ध करते रहे। इनके पास विशाल सेना थी। इन्होनें पंजाब, बंगाल, कामरूप (आसाम) तथा भड़ोच (गुजरात) तक के तमाम देश जीत लिये थे। दक्षिण में चालुक्यों से भी इनकी टक्कर हुयी। अन्त मे नर्मदा नदी को सरहद मानकर दोनों साम्राज्यों का समझौता हो गया।

सम्राट् हर्ष वहुत योग्य शासक थे। राज्य व्यवस्था के निमित्त आजकल की भांति स्थानीय संस्थायें थी। डाक्टर हावेल ने इनकी राज्यव्यवस्था का अपनी पुस्तक में उत्तम वर्णन किया है। इन दिनों ग्राम्यशासन सुव्यवस्थित था। शिक्षा का पूर्ण प्रवन्ध था। हर्ष विक्रम भी स्वयं विद्वान योद्धा तथा साहित्य, संगीत और कला के अत्यन्त प्रेमी थे। इन्होंने तीन नाटकों की रचना की है। प्रसिद्ध चिनीयात्री ह्वानचांग इनके दरबार में रहा है और उन्होंने हर्ष विक्रम के साम्राज्य का आकर्षक वर्णन लिखा है। इस समय भारत में चार बड़े २ विश्वविद्यालय थे। विद्यार्थी ३० वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करता था। नलन्दा विश्वविद्यालय की ख्याति दूर २ देशों में थी। यह विद्यालय गगनस्पर्शी मिनारों से समलंकृत ओर ऊंची अट्टालिकाओं से भरपूर था। इसमें १०००० छात्र थे। इनके व्यय के निमित्त १०० गावों की आय नियत थी। इस विद्यालय में १००० साधू सूत्रों और शास्त्रों

के पंडित थे। १० पंडित ५० ग्रन्थों के पारगामी तथा ५० पंडित ३० ग्रन्थों के तत्ववेत्ता थे। इन सब में शीलभद्र नामक पंडित सर्व शास्त्र संम्पन्न थे। यहां के कुलपति (चान्सलर) यही भद्रसेन थे। विद्यालय में बौद्ध तथा आर्य्य दोनों प्रणालियों से शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा पक्षपातरहित थी। तक्षशिला में वैद्यक तथा उज्जैन में ज्योतिष की शिक्षा दी जाती थी।

सम्राट् हर्ष आरंभ में आर्य धर्मानुयायी थे परन्तु बाद को इनका झुकाव बौद्धमत की ओर हो गया। इनके राजमहल में प्रतिदिन १००० बौद्ध साधू और ५०० ब्राह्मण भोजन पाते थे। इनके राज्यकाल में विभिन्न मतों पर बड़े २ शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे। सम्वत् ७२१ में हर्ष ने राज्य को सुसंगठित करते के निमित्त अपनी राजधानी कन्नौज में बनायी और यहांपर एक महान् शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया। इस में १८ आधीनस्थ राजे ३००० ब्राह्मण तथा ४००० बौद्धों ने भाग लिया। बहुत दिनों तक शास्त्रार्थ चला और अन्त में बौद्धों की विजय हुयी परन्तु विजय के साथ ही सभामंडप में आग लग गयी। संभवतः वह ब्राह्मणों की करतूत थी। बौद्धों की विजय देखकर एक ब्राह्मण हर्ष पर हमला करने को दौड़ा परन्तु वह पकड़ लिया गया और उसे प्राण दण्ड दिया गया। साथ ही ५०० ब्राह्मणों को देश निकाला हुआ।

इन दिनों प्रयाग में पंचवर्षीय मेला हुआ करता था और उसमें नाना विषयों पर शास्त्रार्थ होते थे। ढाई मास तक यह मेला रहता था। सम्राट् हर्ष स्वयं बौद्ध और ब्राह्मणों को दान देते थे। एक बार राजा ने सब कुछ दान में दे डाला। फिर अपनी बहिन राज्यश्रीसे मांगकर दान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष की दानशीलता विक्रम की

दानशीलता के ही तुल्य है। सम्राट् हर्ष आर्यसभ्यता का भी अत्यन्त आदर करते थे। क्योंकि बाण कवि ने एक स्थान पर लिखा है:—

विरचय्य परमया भक्तया, भगवतो नीललोहित स्यार्याम्

हर्ष विक्रम शैव और विष्णु दोनों के उपासक थे। उनके धार्मिक विचार बड़े उदार थे।

सम्वत् ७०१ में हर्ष ने ह्वांनचांग को धनदौलत देकर चीन के लिये बिदा किया। ६ मास में चलते २ जालन्धर तथा नमक के पहाड़ के मार्ग होकर वे चीन पहुंचे। रास्ते में उनका कुछ सामान लुट गया। इसके बाद हर्ष ने अपना एक राजदूत भी चीन भेजा। चीन के बादशाह ने भी इसके बदले में अपना प्रतिनिधि भारत भेजा। सम्वत् ७०४ में हर्ष ४२ वर्ष तक एकछत्र राज्य करने के बाद हर्ष मर गया। इसकी मृत्यु के बाद फिर भारतका राजनैतिक अधःपतन शरू हुआ।

इस प्रकार सम्राट् हर्ष विक्रम वीर विक्रम के ही मानिन्द अपना विक्रम दिखाकर अपना नाम अमर कर गये हैं।

(४) राजा भोज ऊर्फ विक्रमादित्य

वीर विक्रम की उपाधि धारण करने वाले चौथे ऐतिहासिक विक्रम परमारवंशीय राजा भोजदेव हो गये है। लगभग ईस्वी सन ९१० के आसपास अग्निवंशीय क्षत्रीवीर कृष्णराज उर्फ उपेन्द्रराज ने आबू पर्वत के आसपास मालवे में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और इन्होंने भी उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया। इस परमारकुल में भी अनेक प्रतापी राजा हो गये है, परन्तु मुंजदेव अति प्रसिद्ध हैं।

लगभग ९७३ ईस्वी में मुंजदेव उज्जैन के राजसिंहासन पर आरुढ़ हुये। इन्होंने कर्नाटक, केरल, गुजरात आदि अनेक देश के राजाओं से युद्ध करके विजय प्राप्त की और अपने राज्य का बहुत कुछ विस्तार भी किया। इन्होंने दक्षिण देशीय चालुक्य राजा तैलपदेव को भी परास्त किया परन्तु अन्त में वे उसी के हाथों मारे गये। मुंजदेव जहां बड़े योद्धा थे वहां बड़े ही गुणी, रसिक और पंडित भी थे। वे उद्यान आदि लगाने के बहुत शौकीन थे। इन्होंने राज्य में जलाशय व कुयें निर्माण कराये, उद्यान लगवाये जो अभीतक मौजूद है। उज्जैन का पिशाच-मोचन तीर्थ, घाट व मन्दिर इन्हीं का निर्माण कराया हुआ है। इनके अतिरिक्त नर्मदा तटपर ओंकारेश्वर तथा कुब्जासंगम का घाट भी इन्हीं का बनाया हुआ बताया जाता है।

मुंजदेव के पश्चात् उनके छोटे भाई सिन्धुराज ने कुछ कालतक उज्जैन में राज्य किया और उनके पश्चात् उनके पुत्र भोजदेव सन् १०१० में सिंहासन पर बैठे। इन्होंने अपनी राजधानी उज्जैन से हटाकर धारा नगरी में स्थापित की। भोजदेव भी विक्रम की नाईं बड़े पराक्रमी, दानशील, न्यायी तथा पुरुषार्थी सम्राट् हो गये हैं। इन दिनों मध्यभारत में त्रिपुरी और हैहय के राजाओं से इन्होंने कई बार युद्ध किये और गुजरात में अनहिलबाड़ा के राजाओं से भी यह लड़े। कल्याणपुर के चालुक्य बंशीय पंचम विक्रमादित्य को (संभवतः चालुक्य वंशीय राजाभी अपने पीछे विक्रम की उपाधि करते ते) हराकर इन्होंनें अपने चाचा सिन्धुराज की हत्या का बदला लिया। इनकी धाक को सुनकर मुहम्मद गोरी सोमनाथ मन्दिर को लूटने के बाद मालवे के रास्ते वापिस न जाकर मुल्तान के मार्ग होकर वापिस गया। सन १०५९ में अनाहिलबाड़ा, त्रिपुरी और कर्नाटक के तीनों राजाओं ने मिलकर

धार नगरी पर चढ़ाई की। इस बार महाराज भोजदेव युद्ध में हार गये और कुछ काल बाद उनका देहान्त हो गया।

परमारवंशीय राजाओं में महाराज भोजदेव सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त हैं। इन्होंने भी विक्रमादित्य की पदवी धारण की। इनका भी कई बातों में मालव वंशीय विक्रमादित्य से सामञ्जस्य है। ये दोनों स्वयं विद्वान थे। वीर थे। गुणीजनों को चाहनेवाले और अत्यन्त उदार थे। महाराज भोजदेव की सभा में भी वीर विक्रम की तरह नवरत्न थे। इस काल में भी एक ऐसे ही कालिदास हो चुके हैं जैसे विक्रम काल में। स्वयं महाराज भोज ने ज्योतिष, वैद्यक, शिल्प आदि शास्त्रों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। आप का अलंकारशास्त्र पर लिखा हुआ स्वरचित 'कंठाभरण' नामक ग्रन्थ तथा योगसूत्रपर उनकी लिखी हुयी पुस्तक "राजमार्तण्डा" बिद्वत्‌जनों में सर्वमान्य समझी जाती है। संस्कृत विद्या के अध्ययनार्थ आप ने धार नगरी में एक संस्कृत पाठ-शाला खोली जो भोजशाला के नाम से ख्यातिप्राप्त थी। आपने भी वीर विक्रम की भांति केदारेश्वर, रामेश्वर तथा सोमनाथ ज्योर्तिलिंगों के मन्दिर बनवाये। आप परमवैष्णव थे। उन्होंने उज्जैन में भी महा कालेश्वर के मन्दिर का उद्धार कराया। आपने काश्मीर प्रदेश में पापसूदन तीर्थ का उद्धार कराया। आप का बनवाया हुआ भोजसर नामक तालाब अब भी भूपाल में स्थित है। अब इस तालाब के इर्दागिर्द कई गांव बसे हुये हैं। इस राज्य में अब भी भोजपर्गना मशहूर है। इनके अतिरिक्त आप ने स्थान २ पर धर्मशालायें, देवालय, मन्दिर तथा कुंये बनवाये और बाग लगवाये। इस काल में राजा भोज की ख्याति विक्रम के नाई समस्त भारतवर्ष में व्याप्त थी।

अभीतक बहुत से लोगों में यह भ्रम है कि परमारवंशीय उज्जैन नरेश भोज़ विक्रमादित्य ही वीर विक्रमादित्य हैं परन्तु इन दोनों विक्रमों के बीच कम से कम १००० वर्ष का फ़रक है। भोजकाल में बौद्धधर्म भारत से सर्वथा उठ गया था। इसके स्थान पर भारत में शंकरमत का बोलबाला था। जैनधर्म भी इन दिनों प्रचलित था। विशेषकर स्वेताम्बर जैनियों ने मालवा के आसपास अपना अड्डा जमा लिया था। सम्राट् भोज धर्म के प्रति बड़े उदार थे। इनके काल में जैनधर्म की भी अभिवृद्धि होती रही।

'राजा भोज और गंगू तेली' की कहावत अब भी जगह २ दुहरायी जाती है। कहते हैं कि राजा भोज बड़े दानी थे। दान देते २ अपना सब कुछ खो बैठे तो फिर अपने राज्य का भ्रमण करने को निकले। एक दिन आप एक राजमार्ग पर भूखे प्यासे बैठे थे तो सामने एक तेली अपना कोल्हू चलाता था। भोज को बेकार समझकर उसने बुला कर नौकर रख लिया और उसे कोल्हू पर बैल हांकने का काम दिया। जिस दिन से राजा भोज कोल्हूपर बैल हांकने लगे तेली का खूब तेल पैदा हुआ और बिका। अन्त को उस नगर में एक राजकुमारी की शादी थी तो सब लोग वहां गये। राजकुमारी ने भोज को पहिचाना और उसके गले में जयमाल डाल दी। इस से सब को आश्चर्य हुआ। तभी से 'राजा भोज और गंगू तेली' की कहावत प्रसिद्ध है।

भोज और कालिदास के सम्बन्ध में कई कथायें प्रसिद्ध हैं। उस काल में भोज और कालिदास का वैसाही संवाद है जिस प्रकार सम्राट् अकबर और बीरबल का। यह कालिदास विक्रम कालीन कालिदास से भिन्न हैं परन्तु विद्वत्ता में इन्हीं की भांति हैं। इन का आगे वर्णन किया जावेगा।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने 'भोज का सपना' नामक एक पुस्तक लिखी है उसमें आपने बताया है कि राजा भोज को एक रात को एक स्वप्न दिखायी दिया। उसमें उन्होंने देखा कि एक साधू उनसे ३ छोटे २ पत्थर उठाकर एक पहाड़ पर चढ़ने का आदेश दे रहा है। राजा भोज जब उन पत्थरों को उठाकर चलता है तो वह चोटी पर नहीं पहुंचता। तब वह एक २ करके उन्हें फेंक देता हैं। साधू तब उन्हें समझाता है कि ये तीनों पत्थर तुम्हारे धर्म, तप और दान हैं। जो तुमने किया है सो अहंकारपूर्ण हैं। अतः तुम इसे लेकर स्वर्ग नहीं जा सकते। इसी प्रकार उसे ३ पेड़ स्वप्न में जवाहरातों से लदे हुये दिखाई दिये परन्तु जब भोज उनके समीप गया तो जवाहरात गायब थे। यहांपर भी भोज को संसार की अनियमितता तथा मिथ्यापन का उपदेश दिया गया। इन कथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि राजा भोज की ख्याति कितनी दूर तक पहुंची थी!

न्याय तथा प्रजा के हित के सम्बन्ध में भी राजा भोज की ख्याति मशहूर हैं। भोजदेव के पश्चात् परमारवंश में मालवे के सिंहासन पर राजा जयसिंह और उदयादित्य बैठे। इन्होंने भी परमारकुल का यश बढ़ाया परन्तु इनके बाद परमारवंशीय राजवंश का शासन सूर्य प्रक्षिप्त होने लगा।

(५) देशभक्त जनरल हेमू ऊर्फ विक्रम

जिन दिनों दिल्ली में मुगल सम्राट् अकबर गद्दीपर थे हेमू नामक एक ब्राह्मण पंडित ने मुगल सम्राट् अकबर के अधिपत्य को स्वीकार नहीं किया। हिन्दू साम्राज्य का पुनः स्वप्न देखने वाले उस आचार्य हेमू

ने सबसे पहिले 'विक्रम' की उपाधि धारण की और जनता में यह घोषणा की कि वह मुगल सम्राट् अकबर को दिल्ली से निकालकर उसके स्थानपर प्रसिद्ध हिन्दूराज्य की स्थापना करेगा। इस कार्य्यकी सिद्धि के लिये उसने वीर विक्रम के जीवन से उपदेश लिया; इतना ही नहीं, बल्कि विक्रम की पदवी भी धारण की।

मुगल बादशाह अकबर का नाश करने तथा देश में हिन्दू राज्य की स्थापना करने के निमित्त उसने एक बहुत बड़ी सेना भी एकत्रित की। यह घटना लगभग १५६० ई० के आसपास की हैं। हेमू स्वयं बड़ा वीर था। अकबर की सेना में रह चुका था। उसकी स्वतंत्रा की घोषणा का उत्तर १ लाख हिन्दू नौजवानों ने दिया और चुनार जिला मिर्जापुर में हिन्दुओं की यह महाबली सेना सेनापती हेमू के नायकत्व में दिल्ली की ओर रवाना हुओ। हेमू के इस पराक्रमी साहस को देखकर पहिले तो अकबर बहुत घबराया। उसने इस पराक्रमी हेमू से लड़ने के बजाय दिल्ली छोड़कर भागने की ठानी परन्तु उसके पुराने सेनापति बैरामखां के कहने पर वह हेमू से लड़ा। लड़ाई में हेमू हार गया। परन्तु उसने वीर विक्रम का नाम सार्थक करनेवाला देशभक्ति का यह कार्य इतिहास में अमर कर दिया।

कहते हैं कि हेमू भी विक्रम की ही तरह अतुल साहसी, योद्धा और दयालु सेनापति था। आर्यसभ्यता के पुनरुद्धार करने के निमित्त उसने तत्कालीन पददलित हिन्दू समाज में नया जोश व नयी लहर पैदा की। यद्यपि वह हार गया परन्तु फिर भी उस मुगल कालीन 'विक्रम' का नाम इतिहास में अमर है।

(६) महाराणा विक्रमादित्य

श्रीयत मुन्शीदेवीप्रसादजी कायस्थ भूतपूर्व मुंनाफिस जोधपुर वालों ने मेवाड़ के पराक्रमी राजाओं का जीवन चरित्र संकलित किया है जिसमें उन्होंनें एक अन्य विक्रमादित्य का पता लगाया है। आप लिखते है कि सम्वत् १५८८ में मेवाड़ में एक नामधारी विक्रमादित्य हुये हैं। परन्तु इन में विक्रम के गुणों के बदले तमाम अवगुणों का समावेश था। अतः इन महाराणा विक्रमादित्य को ऐतिहासिक परि-भाषा में 'यथा नाम तथा गुणाः' के विरुद्ध यदि " नाम नैनसुख आखों के अन्धे " विक्रमादित्य कहा जाय तो यह बात अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगी।

ऐसे हिन्दूपति महाराणा विक्रमादित्य जी सम्वत् १५८८ में रणथंभोर किले से चित्तोर आकर मेवाड़ के राजसिंहासन पर बैठे। महाराणा विक्रमादित्य हिन्दूपति महाराणा संग्रामसिंह जी के बेटे थे। महाराणा संग्रामसिंह जी के ५ बेटे थे। इन में भोजराज और करण तो पहिले ही मर चुके थे। महाराणा रतनसिंह सूरजमल से आपसी वैमनस्य में लड़ते हुये मारे गये। महाराणा विक्रमादित्य तथा उदयसिंह बूंदी के हाड़ा राव नरवरसिंह की बेटी करमतीबाई के पुत्र थे। हाड़ा रानी से महाराणा संग्रामसिंह जी का अधिक प्रेम था। एक दिन रानी ने महाराणा से प्रार्थना की कि उसके दोनों राजकुमारों को रणथंभोर का किला दे दिया जाय। दूसरे ही दिन महाराणा ने दरबार में इस बात की घोषणा कर दी और दोनों ही राजकुमार दूसरे दिन सूरजमल की संरक्षता रणथंभोर में भेज दिये गये।

राजा सूरजमल बूंदी के राव नारायणदास के पुत्र थे। बाप के मरने पर वे गद्दी पर बैठे। राणा संग्रामसिंह ने इनको गद्दीनसीन होने पर ३००००) का एक इराकी घोड़ा तथा ६००००) का एक हाथी व बहुत सा माल इनको टीके में दिया। इस के बाद संग्रामसिंहजी भी मर गये और चित्तोर के गद्दीपर राणा रतनसिंह बैठे। गद्दी पर बैठते ही इन्होंने अपने भाईयों को बुलाना चाहा परन्तु हाड़ा की रानी ने अपने राजकुमारों को भेजने से इन्कार कर दिया। इसपर राणा रतनसिंह को सन्देह हुआ। इसके बाद राणा रतनसिंह की मृत्युपर फिर दोनों भाईयों को चित्तौर वापिस आना पड़ा।

जब महाराणा विक्रमादित्य रणथंभोर से चित्तौर आये तो इस समय इनकी अवस्था केवल १२–१३ बर्ष की थी। उनके पिता राणा संग्रामसिंहने राज्य बढ़ाकर ६ करोड़ की वार्षिक आय कर ली थी। परन्तु राणा विक्रमादित्य के समय सारा राज्य का कारबार बिगड़ने लगा। एक तो महाराणा विक्रमादित्य अल्पवयस्क थे दूसरे इनको केवल पहलवानों की कुश्ती देखने का शौक था। राजकाज बिगड़ता गया। मुल्क में खराबी फैली। मौका पाकर गुजरात का सुलतान बहादुर शाह मालवे से मेवाड़ की ओर बढ़ा। राणा संग्रामसिंह ने कई किले जीते हुये थे वह उनपर काबू न कर सके। सुलतान ने धीरे २ गांगरोने और मंदसौर के किले जीत लिये। आखिर १५८९ में चित्तौर पर भी धावा बोल दिया। इस बार बूंदी, मेड़ते और जोधपुर के वीर राजाओं ने इनका साथ दिया परन्तु सुलतानी तोपखाने के सामने राजपूती तलवारें न टिक सकीं। अन्त में रानी करमाती ने समझौता कर लिया। तीन मास चित्तौर में रहने के पश्चात् बहादुर शाह अजमेर

को गया। कहते हैं कि वह राणा विक्रमादित्य के छोटे भाई उदयसिंह को भी साथ लेजाना चाहता था परन्तु राजाओं ने उसे वहां से भगा दिया। इसपर बहादुरशाह बहुत बिगड़ा।

महाराणा विक्रमादित्य को राजनैतिक बातों की कोई चिन्ता न थीं। दुश्मन को सिरपर देखकर वे चिंतित नहीं थे बल्कि गाफिल रहते थे। वे अपने सरदारों को प्रसन्न रखने के बजाय उन्हें नाराज करते। उनकी कमजोरी देखकर फिर बहादुरशाह ने तीसरी बार चित्तौर पर चढ़ाई की। इस बार भी राजपूत सूरमा मुसलमानों से लड़े। इस बार करमाती रानी ने दिल्ली के बादशाह हुमायूं से भी बहादुरशाह के खिलाफ मदद मांगी। बहादुरशाह इस चालाकी को समझ गया। अतः उसने अपनी सेना का १ हिस्सा हुमायूं को रोकने के निमित्त नागौद भेजा और दूसरा अजमेर। हुमायूं रानी करमाती का पत्र पाकर कालींजर के किले लौटे और बहादुर के मुकाबिले को बढ़े परन्तु मुल्लाओं के उपदेश पर कि काफिर की मदद नहीं करनी चाहिये वे युद्धभूमि से दूर रहे।

इस बार राजपूतों ने घोर युद्ध किया। परन्तु बहादुरशाह ने सुरंग लगाकर चित्तौर के किले की दीवारें उड़ादी। इससे ५०० राजपूत मर गये। राजपूतों ने बहुत दिनों तक चित्तौर की रक्षा की। अन्त में रानी करमाती ने महाराणा विक्रमादित्य व उनके भाई को रावं सुरतान के पास भेजा और सभी राजपूत केसरियाबाना पहिनकर समरांगण में जूझते हुये मारे गये।

इस युद्ध में ३०००० राजपूत वीर काम आये और लगभग १३००० राजपूतनियां रानी करमाती के साथ आग में जल मरी। (चैत सुदी सम्वत् १५९२).

महाराणा विक्रमादित्य ने यह सारा हाल देखा परन्तु फिर भी गफलत में रहे। वह राज्य सम्हालने में सर्वथा अयोग्य थे। एक दिन उन्होंने अपने संरक्षक पंवार क्षत्रीय सर्दार करमसिंह को खुले दरबार में थप्पड़ मारा जिससे तमाम राजपूत इनसे नाराज हो गये। अतः शीघ्र ही उन्होंने इसका षड़यंत्र रचा और महाराणा विक्रमादित्य का वध करवा डाला।

यह वही महाराणा विक्रम हैं जिन्होंने प्रसिद्ध भक्तिन मीराबाई को विष का प्याला दिया था। ये मीराबाई के देवर होते थे। कहावत है:—"**राणाजी विष मोकले, दीजो मेड़तनी के हाथ।**

चरणामृत कर पी गयी, तुम जानो रघुनाथ॥"

मीराबाई बहुत बड़ी भक्तन थीं। इनके पास साधु सन्त बहुत आते थे। ये राणा संग्रामसिंह के बेटे भोजराज की रानी थी और बालकाल ही में विधवा हो गयीं थी। इनकी भक्ति को रोकने के निमित्त राणा विक्रमादित्य ने इन्हें जहर का प्याला दिया था।

इस प्रकार नामधारी महाराणा विक्रमादित्य की जीवन लीला समाप्त हुयी। इनमें विक्रम के विरुद्ध गुणों का समावेश था। पाठकों के मनोरंजनार्थ ही ऐसे महाराणा विक्रम का यहांपर थोड़ासा परिचय दिया गया है।

(७) कुमार देवीचन्द उर्फ विक्रमादित्य

डाक्टर हेमचन्द्र जोशी जी ने सम्राट् विक्रम के सम्बन्ध में एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है जिसमें उन्होंने एक नये विक्रम का पता लगाया है। आप लिखते हैं:—

"वीर विक्रम का यह पराक्रमकाल भारत आजतक न भूला और हमारे कई सम्राटों और राजाओं में उस "तपस्या के धनी और

धन के दरिद्र" महातेजस्वी और यशोधन विक्रमादित्य की उपाधि से अपने को विभूषित करनेकी प्रबल इच्छायें उत्पन्न हुयीं। अबतक जिन विक्रमादित्यों पर इतिहास के विद्वानों में मतभेद है उनका वर्णन ऊपर आ चुका है। अतः यहांपर एक ऐसे विक्रमादित्य का उल्लेख किया जाता है जिसने सन् १७२० ईस्वी से लेकर १७२६ तक राज्य किया और इस काल ही में अपनी कीर्ति अमर कर गया।

कुमार देवीचन्द कुमाऊं राज्य में जन्मा। डाक्टर जोशी लिखते हैं कि उस कुमाऊं राज्य के तत्कालीन मंत्री उनके पूर्वज जोशी ब्राह्मण थे। इस राजकुमार की शिक्षा दीक्षा जिस गुरु को सौंपी गयी थी उनको राजा की ओर से आज्ञा हुयी कि कुमार को वीर विक्रमादित्य के आदर्श पर शिक्षित किया जाय। ऐसा ही किया गया। कुमार देवीचन्द सन् १७२० ई. में राज्यसिंहासपर बैठा तो शीघ्रही उसने अपने को विक्रम की भांति प्रजा का सेवक घोषित किया। उसने सारे राज्य में घोषणा की कि दीनदुखी और रोगी को राजदरबार में भेजा जाय। उनका कष्ट यथाशक्य दूर किया जावेगा। सिंहासनपर बैठते ही उसने राजाज्ञा निकालीः—"मैं विक्रमादित्य के पगपर चलने की चेष्टा करना चाहता हूं। इसलिये अपनी ऋणग्रस्त प्रजा का सारा कर्ज चुकाता हूं। अतः ऋण के भार से दबी प्रजा दरबार में हाजिर हो।"

राजा देवीचन्द की इस घोषणा से सारे राज्य में उसकी जय का नारा गूंज उठा। सब कर्जदार दरबार में उपस्थित हुये और इस महानपुण्य के कार्य में एक करोड़ रुपया व्यय हुआ। इस राजा ने सैकड़ों गांव दान दिये और हजारों गोदान भी किये तथा 'लक्ष्यहोम' के पीछे 'कोटिहोम' भी किये। इन होमों में भी एक २ होम के पीछे आठ आठ हजार अशर्फियां दक्षिणा में दीं। सन् १७२३ में इस

अन्तिम विक्रमादित्य ने एक जंगल के पास पड़ाव डाला। कड़ाके की ठंडी थी परन्तु इस पर दुखभंजक, प्रजावत्सल राजा ने देखा कि उस की कुछ प्रजा वस्त्रों से वंचित शीत के प्रकोप से कांप रही है। अतः तुरन्त आज्ञा निकाली—"पेड़ों को जाड़ा लगता है, वे कांपते नजर आते हैं अतः इन्हें बादला व कीमखाब से मढ़ दो। ऐसा ही किया गया। और कुछ ही दिन बाद हुक्म हुआ कि दीन दुखी निर्धन इन पेड़ों से कपड़ो को ले जांय।"

इस राजा देवीचन्द उर्फ विक्रमादित्य के दिल में दिल्लीराज्यके यवनों को पराजित करने की प्रबल लालसा थी। इस कारण उसने अफगान सरदार दाउदखां को साथ मिला रखा था और अपनी हिन्दू सेना के अतिरिक्त दाउदखां से भी चालीस हजार पठान सेना तयार करवा रखी थी। इस ने रुहेलखंड पर आक्रमण भी कर दिया। परन्तु जब युद्ध हुआ तो बादशाह के सिपहसालार अजमलखांने दाउदखां को फोड़कर अपनी ओर कर लिया। फिर भी कुंमाऊनी वीर बड़ी बहादुरी से लड़े और बादशाह को हिम्मत न हुयी कि कुमाऊं के राज्यपर अपनी सल्तनत कायम करें। पराक्रम के लिये व्याकुल इस विक्रमादित्य ने शाही खान्दान के एक शहाजादे को अपनी ओर मिलाया और उधर जयपुर महाराज को पत्र लिखा कि "मैं हिन्दू जाति का सेवक हूं और उत्कट इच्छा रखता हूं कि यवन राज्य का नाश हो। अतः आप इस पुण्यकार्य में मेरी सहायता करें और वीर क्षत्रिय जाति का मुख उज्वल करें।" महाराज जयपुर ने इस पर अपना एक वकील श्री किसनदास नामक व्यक्ति को कमाऊं भेजा और सहायता देने में असमर्थता प्रकट की। यद्यपि राजा देवीचन्द इस महान्-कार्य को सानन्द सफल करने में असफल रहे फिर भी इस उपाधिधारी

दानशूर, पराक्रम के प्रचण्ड साधक, कलाकौशल्य के आश्रयदाता, हिन्दू जाति के महान संरक्षक राजा देवीचन्द की जितनी तारीफ़ की जाय, वह थोड़ी है।

ऐसे एक पराक्रमी विक्रमादित्य को अभी केवल २०० वर्ष बीते हैं। परन्तु फिर भी वह अपने चरित्र और पराक्रम व दानशीलता से शकारि विक्रमादित्य का आभाष दे गया है। तब फिर किस प्रकार कौन सा ऐसा इतिहासकार है जो वीर विक्रम के आज से २००० वर्ष पूर्व होने में सन्देह करता हो? क्योंकि अबतक क्षत्रिय राजे महाराजे उसी प्रबल पराक्रमी सम्राट् के कदमचरणों में चलने का प्रयत्न कर अपने को गौरवान्वित समझते है। ऐसे यश के धनी और आर्यसभ्यता के अभिमानी विक्रमों के ही सम्बन्ध में कविवर कालिदास ने कहा हैः--

अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थात्
यशोधनानां हि यशो गरीय।

अर्थात् यश के धनी अपना प्राणदान देकर भी अपनी कीर्ति को इस संसार में अमर कर जाते हैं।"

भारतीय इतिहास का अनुशीलन करने पर अब यह प्रत्यक्षरूप से सिद्ध हो गया है कि सम्राट् वीर विक्रम के बाद कितने ही राजे महा-राजाओं ने वीर विक्रम की उपाधि धारण की और उसका अनुकरण करने का प्रयत्न किया। क्योंकि इस मालवीय वीर को हुये दो सहस्र वर्ष बीत गये हैं। यह सारे भारतवर्ष में धर्मराज युधिष्ठिर के बाद एक आदर्श धर्मराज व प्रजावत्सल राजा पैदा हुआ है। आदर्श ही नहीं, बल्कि यह दानवीर और धर्मराज की सजग मूर्ति था। इसका न्याय

और इसकी दानशीलता की इस कलिकाल में और किससे उपमा दी जा सकती है।

उक्त ७ सातके अतिरिक्त अन्य राजाओं ने भी विक्रमादित्य की पदवी धारण की। कुछ लोग सातकर्णी राजा शालीवाहन को भी विक्रमादित्य कहने लगे थे। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रमाण नहीं मिलता। बाद को राजपूत राजाओं में यह भी परम्परा की बात मानी जाने लगी कि जो कोई व्यक्ति कुछ भी पराक्रम करता वह विक्रम की उपाधि धारण करता। इससे यही परिणाम निकलता है कि बादके उपाधिधारी विक्रम असली वीर विक्रम के रूपक हैं।

विक्रम का सिंहासन और न्याय

सम्राट् वीर विक्रम का न्याय तथा उनका एतिहासिक सिंहासन संसार की ख्यातिप्राप्त वस्तुयें हैं। जहां एक ओर विक्रम महा-पराक्रमी तथा अतुलदानी था वहां वह सच्चा न्यायाधीश और सुप्रसिद्ध शासक भी था। कहते हैं कि महाराज विक्रमादित्य का सिंहासन अष्ट धातुओं के सयोग से बना हुआ था। देखनेमें यह अत्यन्त सुन्दर लगता था। इस सिंहासन के चारों ओर ३२ पुतलियों की मूर्तियां बनी-हुयी थी। कहते हैं कि ये मूर्तियां असली परियों की अवताररूप थीं। किसी दूसरे व्यक्ति को इस सिंहासनपर बैठने की हिम्मत नहीं होती थी। क्योंकि ये पुतलियां दूसरे व्यक्ति के बैठने पर ऐतराज करती थीं। यह सिंहासन बहुत ही खूबसूरत, कीमती जवाहरातों और मणिमाणिक्यों जड़ा हुआ था। सम्राट् विक्रम इसी सिंहासनपर बैठकर सच्चा न्याय किया करते थे। धर्मराज युधिष्ठिर की भांति वीर विक्रम का न्याय भी संसार में प्रसिद्ध है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी को छांट देता है इसीं प्रकार विक्रम भी इन्साफ और बेइन्साफ को पृथक करके दूध और पानी की भांति निर्णय देते थे।

'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'बेताल पचीसी' नामक ग्रन्थों में जिन कथाओं का वर्णन है और उन कथाओं के आधार पर सम्राट्

विक्रम का जो फैसला हैं। उसे देखते हुये हमारी विवादग्रस्त सारी शंकायें दूर हो जाती है और विक्रम के न्याय का सच्चा आदर्श दिखायी पड़ता है। यद्यपि कुछ लोगों की धारणा है कि ये कहानियां केवल मनगढ़न्त दन्तकथायें हैं परन्तु जो भी हो मनगढ़न्त कथाओं का भी कुछ आधार होता है। 'बेताल पचीसी' में बेताल सारा किस्सा विक्रम को सुनाकर उससे विवादगस्त विषय का न्याय चाहता है और विक्रम भी उसका फैसला करता है। फैसला कितना सरल, यथार्थ और कितना स्वाभाविक है? न्याय वही है जो स्वाभाविक हो।

यह सिंहासन कहां से आया और कैसे बनाया गया? इस सम्बन्ध पें अभी अधिक ज्ञात नहीं है परन्तु इतना ज्ञात हुआ है कि विक्रम की मृत्यु के बाद यह सिंहासन पृथ्वी पर लोप हो गया था। कुछ कालतक उज्जैन नगर विक्रम की मृत्यु के बाद नष्ट हो गया था अतः विक्रम दरबार तथा सिंहासन के बारे में फिर चर्चा आती है। कहते हैं कि भोजकाल में एक गांव के कुछ अहीरों के लड़के रोज गायें चराने जंगल में जाते थे। और वहां वे आपस में लड़ते थे। जब ऊन ग्वालों में खूब लड़ाई होती थी तो फिर वे आपस ही में न्याय का ढ़ोंग रच-कर फैसला करते थे। इनमें से एक लड़का राजा बनकर एक टीले पर बैठता और दोनों पक्षों की बातें सुनकर सच्चा २ न्याय करने लगता था। इस बात की चर्चा अब सारे गांव व शहर में फैली। तत्कालीन राजा ने इस बात की यथार्थता का पता लगाना चाहा। वह टीला खोदा गया और उसमें से रत्नजड़ित ३२ पुतलियों वाला विक्रम का सिंहासन दिखायी दिया। जब राजा ने उसपर बैठने की कोशिश की तो उन सब पुतलियों ने कहा कि हे राजा! तुम इस योग्य नहीं हो कि इस विक्रम के सिंहासन पर बैठे सको। इसके पश्चात् वह पुतलियां

सिंहासन सहित लोप हो गयीं। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि परमारवंशीय राजा भोज विक्रम ने भी इस सिंहासन पर बैठकर न्याय करने की कोशिश की परन्तु उसे भी असफलता मिली। इन घटनाओं का जिक्र सुनकर दिल्ली के मुगल बादशाहों ने जब उज्जैन जीता तो उस सिंहासन को खोदकर उज्जैन से दिल्ली लेजाना चाहा। कहते हैं कि कुछ लोग उसे उठाकर दिल्ली भी ले गये परन्तु यह राजधानी तक नहीं पहुंच सका। अभीतक यह बात कहीं जाती है कि उक्त विक्रम का सिंहासन दिल्ली के ही आसपास कहीं गढ़ा पड़ा है। यह आखिरी बांत मैंने केवल दन्तकथाओं के आधार पर लिखी है।

विक्रम सम्वत् का आरंभ

विक्रम सम्वत् गणना के सम्बन्ध में अभीतक लोगों में यह भ्रम फैला हुआ है कि यह सम्वत् किसने और कब से आरंभ किया। जबकि पाश्चात्य विद्वान सम्राट् विक्रम का अस्तित्व मानने में आनाकानी करते हैं तो फिर उसकी कालगणना करने में वे लोग क्यों सत्यता से काम लेने लगे? बहुत से पाश्चात्य और उनकी देखादेखी पौर्वात्य अथवा भारतीय विद्वानों का कथन है कि विक्रम सम्वत् का आरंभकर्ता गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितिय है। कुछ लोग इसे शक राजा शातकर्णी का चलाया हुआ मानते हैं। परन्तु इस विषय पर यदि हम निःपक्षरूप से विचार करें तो यथार्थ में ये सब धारणायें और कल्पनायें असत्य प्रतीत होती हैं। चाहे इस विषय में लोगों की कुछ भी कल्पनायें हों परन्तु यह बात सर्वथा सत्य है कि विक्रम सम्वत् सम्राट् वीर विक्रम की विजय का स्मारकरूप है। ज्योतिष के तमाम ग्रन्थों में विक्रम सम्वत् का ही जिक्र है। जब इस वीर सम्राट् विक्रम ने शकों पर विजय हासिल की तो उनके मंत्रीमंडल ने अपने सम्राट् के नाम से विक्रम सम्वतू चलाना चाहा परन्तु चूंकि एक तो वीर विक्रम प्रजा के निर्वाचित सम्राट् थे और दूसरे वे अपने यश, कीर्ति अथवा नाम के भूखे नहीं थे। अतः आरंम्भ में उन्होंने अपनी

विजय के स्मरणार्थ अपनी मातृभूमि के नाम से नया सम्वत् चलाया जो आरंभ में मालव सम्वत् कहलाया जाने लगा।

यहांपर यह भी प्रश्न होता है कि सम्राट् विक्रम को अपनी विजय का सम्वत् चलाने की क्या आवश्यकता थी ? क्या इससे पूर्व कालगणना का कोई दूसरा साधन नहीं था ? क्या अन्य कोई सम्वत् प्रचलित नहीं थे ? इसका उत्तर यह है कि आरम्भ में विक्रमकाल से पूर्व भी कालगणना चलती थी। सबसे आरम्भ में कल्पाब्द सम्वत् चलता था। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में कल्पाब्द का वर्णन मिलता है। इस सम्वत् को आरम्भ हुये २ अरब वर्ष से अधिक हो चुके हैं। इसके बाद सृष्टिअब्द चलता रहा। इसको चालू हुये १ अरब से भी अधिक वर्ष बीत चुके हैं। इसके पश्चात् हम महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा चलाया हुआ युधिष्ठिर सम्वत् का जिक्र पाते हैं। आजकल पंचांगों में भोग्यकली ५०२० का जिक्र आता है वह युधिष्ठिर सम्वत् अथवा कलिकाल का सम्वत् है।

कल्पाब्द तथा सृष्टाब्द सम्वत् ऋषिमुनियों की गणना हैं। उनकी विद्वता पर हमें शक करने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने जो कुछ किया हैं वह नक्षत्रों की गति विधि, सूर्य तथा चन्द्र के उदय व अस्त तथा उनके भ्रमण के माप को देखकर घटी, पल, नक्षत्र, तथा राशियां स्थिर कर तथा उनके शुभ व अशुभ ग्रहों का इस चराचर जगत में होनेवाले प्रभाव का परिणाम निश्चित किया है। महाभारत काल में भी इन्हीं की तरह धर्मराज युधिष्ठिर के भाई नकुल व सहदेव धुरन्धर ज्योतिषी हो गये हैं। अतः उन्होंने युधिष्ठिर सम्वत् भी कल्पाब्द और सृष्टाब्द की ही तरह उक्त तमाम ग्रहों की गतियों का माप करके

चलगया। अतः विक्रमकाल तक युधिष्टिर सम्वत् ही प्रचलित रहा। विक्रम काल में फिर बाराहमिदिर और घटकर्पर जैसे ज्योतिषशास्त्र के जाननेवाले धुरन्धर विद्वान अविर्भूत हुये। उन्होंने भी युधिष्टिर की भांति सम्राट् विक्रम के विजय स्मरणार्थ नया सम्वत् चलाया और यह सम्वत् भी नक्षत्रों की गतिविधि देखकर ही चालू किया गया ताकि भविष्य के लिये इस सम्वत् की कालगणना मानकर पूर्व प्रचलित सम्वतों को मानने की आवश्यकता न जान पड़े।

वर्तमानकाल में प्राय: सारे विश्व में ईस्वी सन् का प्रचार है। यह सम्वत् हजरत ईसा के नाम से चलता है। इस सम्वत् या सन् को आरंभ हुये १९४४ वर्ष बीत चुके हैं। इसी ईस्वी सन् में ५७ जोड़ने से विक्रम सम्वत् बनता है। सारे भारतवर्ष में हिन्दूलोग विक्रम सम्वत् से ही गणना करते हैं। हिन्दुओं के पंचागों तथा व्यापारियों की बहियों में अभीतक विक्रम सम्वत् ही चलता है। अत: यह सबसे बड़ा प्रबल प्रमाण है कि जिस सम्राट् ने अपने शत्रुओं पर विजय करके, नहीं, वल्कि अपने दरबार में इस योग्यता के धुरन्धर ज्योतिषशास्त्र के सर्वज्ञ विद्वानों को एकत्रित किया हो कि वे पिछली कालगणना के स्थानपर नयी गणना चालू कर सकें, फिर ऐसे सम्राट् के २००० वर्ष होने में सन्देह करना महामूर्खता का परिचय देना है। कोई भी सम्राट् चाहे वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अथवा हर्ष विक्रमादित्य हो अपने अस्थित्वस्थापना से पहिले का सम्वत् नहीं चला सकता। इसलिये वीर विक्रम के सिलसिले में यह सन्देह करना कि वह २००० वर्ष पूर्व नहीं हुआ अथवा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य या हर्ष विक्रम को विक्रम सम्वत् का प्रवर्तक मानना सूर्य का अस्थित्व मिटाने के मानिन्द है।

भविष्यपुराण तथा स्कंदपुराणों में वीर विक्रम के सम्बन्ध में कई स्थलों में जिक्र आया है तथा जैन व बौद्ध ग्रन्थों में भी वीर विक्रम की प्रशस्ति है। स्कंद पुराण के १-३-४० वें श्लोकमें जिक्र है:—

" ततश्चमि सहस्त्रेषु विंशत्या चाधि के धुच
भविष्य विक्रमादित्य राज्यम् ॥ "

इसी प्रकार कालिदास ने अपने 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ में भी लिखा हैं:—

" वर्षे सिन्धुर दशनाम्बरगुणो, याते कलो सीमिते "
" मासे माधव संज्ञकेच विहितो, ग्रन्थ क्रियो पक्रमः ॥"

अतः उक्त दोनों प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रम का काल आज से २००० वर्ष पूर्व है। इसलिये इस बात पर संशय करना कि विक्रम २००० वर्ष पूर्व नहीं हुआ सर्वथा भ्रान्ति फैलाना है। इस सम्बन्ध में अन्य भी कई प्रमाण शास्त्रों में पाये जाते हैं।

श्रीमत्शालीवाहन शाके जो प्रायः विक्रम सम्वत्की ही भांति भारतीय पंचागों में प्रचलित है विक्रमकाल से १३५ वर्ष पीछे का चलाया हुआ सम्वत् है। क्योंकि विक्रम सम्वत् में से १३५ वर्ष कम करने से शालीवाहन शाके बनता है। इससे यह ज्ञात होता है सम्राट् शालिवाहन वीर विक्रम से १३५ वर्ष बाद में हुआ। अथवा ईस्वी सन् के ७५ वर्ष बाद सम्राट् शालिवाहन और ५७ वर्ष पूर्व सम्राट् विक्रम हुआ, यह सर्वथा सही बात है। इस सम्बन्ध में रोम का २००० वर्ष पूर्व का इतिहास तथा भारतीय पुराणों का अध्ययन करने से यह सारा विषय सर्वथा सही मालूम होता है।

अब समाट् वीर विक्रम का अस्थित्व २००० वर्ष पूर्व मानलेने के बाद हमें यहांपर यह भी विचार लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि विक्रम सम्वत् का आरंभ चैत्र से हुआ अथवा कार्तिक से। कई विद्वान् तथा पंचांग इस काल को चैत्र से आरम्भ होना मानते हैं और बहुत से विद्वान तथा पंचांग इस काल की गणना कार्तिक से करते है। अतः इस सम्बन्ध में भी भिन्न २ मत व प्रमाणों पर विचार किया जाना आवश्यक है।

इग्यारवी शताब्दि में जब महमूद गजनवी ने भारतमें चढ़ाई की तो उसके साथ 'अलबरुनी' नामक एक इतिहासकार भारत में आया था। उसने अपनी पुस्तक में तत्कालीन भारत में प्रचलित कई सम्वतों का वर्णन किया है। उसके लिखानुसार वह विक्रम सम्वत् १७८८, शक् सम्वत् ९५३ तथा वल्लव सम्वत् ७१२ में भारत में रहा। कर्नल टाड ने भी इसी प्रकार गुजरात के चालुक्य नरेशों का जिक्र करते हुये राजा अर्जुनदेव के समय का एक शिलालेख का वेरावल नामक स्थान में पता लगाया था। इस शिलालेख में भी निम्न सम्वतों का वर्णन मिला है:—

"श्रीनृपविक्रम १३२०, श्रीमद्वल्वी सम्वत् ९४९, श्री नृसिंह आषाढ़ १५१"

इन सब बातों को देखने से ज्ञात होता है कि मालव सम्वत् नृप विक्रम ने शक विजयोत्सव के समय चलाया गया और विक्रम सम्वत् बर्तमान प्रचलित सभी कालगणनाओं में पुराना हैं। चैत्र अथवा कार्तिक से इस सम्वत् के आरंभ होने में भी विद्वानों में मतभेद है। डाक्टर फ्लीट साहेब का कहना है कि "दाक्षिण भारत की तरह उत्तरी

भारत में भी मालव सम्वत् कार्तिक मे आरम्भ हुआ।" परन्तु हम उक्त डाक्टर साहिब के विचारों से सहमत नहीं। केवल गुजरात प्रान्त को छोड़कर सारे भारतवर्ष के पंचांग नवीनवर्ष का आरंभ चैत्र से ही करते हैं। गुजरात और महाराष्ट्र के पंचांगों में विक्रम सम्वत् कार्तिक से बदलता है और बंगाल तथा बनारस के पंचांगों में चैत्र से। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से इसपर विचार किया जाय तो ऐसा ज्ञात होता है कि सम्राट् विक्रम ने शकों पर बिजय पाने के निमित्त कार्तिक में प्रस्थान किया होगा और संभवतः चैत्र में उन पर विजय पायी होगी। क्योंकि भारत में क्षत्रीवीर वर्षाऋतु के बीतने के बाद युद्ध के लिये निकलते थे, ऐसी परम्परा यहां है। यही कारण है कि विजय पाने के दिन से ही यानि चैत्र मास से ही विक्रम सम्वत् का आरम्भ होना पाया जाता है।

गुप्तकालीन सम्राटों के जो शिलालेख मिले हैं उनमे भी यही पता चला है कि विक्रम सम्वत् कार्तिक से आरंभ न होकर चैत्र से ही आरंभ हुआ। सम्राट् कुमारगुप्त का जो शिलालेख सारनाथ के पास पाया गया है उसमें गुप्त सम्वत् १५५ जेष्ट द्वितीया लिखा हुआ है। इसी प्रकार सम्राट् बुधगुप्त के सारनाथ वाले लेख तथा ऐरण वाले शिलालेख से भी इन्हीं बातों का प्रमाण मिलता है। इनमे भी बढ़कर प्रमाण सम्राट् यशोधर्मन के मन्दसौर वाले शिलालेख में पाया जाता है। उक्त शिलालेख में लिखा है कि यह लेख मालवा सम्वत् ५८९ में लिखा गया जो चैत्र-वैषांख से आरंभ होता है। यथाः—

"पंचसु शतेषु सरदां यातेष्वंकान्तववति सहितेषु।
मालगवण स्थिति वसात् काल ज्ञानाय लिखितेषु॥"

इसी प्रकार कविवर कालिदास ने वसन्त ऋतु में प्रकृति का वर्णन करते हुये निम्न श्लोक लिखा है:—

" यस्मिन काले कलमृदुगिरां कोकिलानाम प्रलापा।
भिन्दंतीव स्मर शरनिभाः प्रेषितानाम् मनांसि॥
मृगालींना ध्वनि सुरतं भारमन्द्रश्च यस्मिन।
नाधूतज्यं धनुरिव तदच्छू पुण्यकेतोः॥

प्रियतम कुपितानाम् राममन्वदधरागं।
किसलयमिव मुग्दधेमानसं मानिनीया॥
उपनयति नम स्वान्मान मंगाय यस्मिन।
कुसुम समय मासे तत्र निर्मापि तोयं॥ "

यह श्लोक भी इस बात की साक्षी देता है विक्रम सम्वत् चैत्र वैशाख के समय से ही, जब कि वसन्त ऋतु का आरंभ होता है, आरंभ हुआ। क्योंकि प्रकृति जिस प्रकार अपनी निराली शोभा वसन्त ऋतु में देती है वैसी शरद् ऋतु में नहीं देती। अत: नववर्ष भी बसन्त ऋतु से आरंभ होता है न कि कार्तिक से। इस सम्बन्ध में श्रीमान गौरी-शंकर जी ओझा ने भी बीरावल लेख को देखने के पश्चात् यही राय कायम की है कि विक्रमार्क चैत्र से ही आरम्भ होता है।

सम्राट् विक्रम की शासन-व्यवस्था

बहुत से पाश्चात्य लेखक यह कहते हैं कि भारत में जन-तंत्र प्रणाली ब्रिटिश काल ही में आरम्भ की गई है, इसके पूर्व भारत में तमाम एकतन्त्रात्मक सत्तायें रही हैं। परन्तु ये बातें सर्वथा गलत हैं। यहां पर आज से २००० वर्ष पूर्व विक्रमकालीन भारत में किस प्रकार गणतंत्र राज्य–व्यवस्था थी उसका कुछ जिक्र इस लेख में किया जावेगा।

'अंगुत्तरनिकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थों १६ राज्योंके समुदाय अथवा फेडेरेशन को 'षोडश-जनपद' नाम से संकेत किया गया है। ये प्रजा-तंत्र राज्य आजकल के प्रान्तीय शासनों की तरह व्यवस्थित होते थे। ये जनपद अथवा प्रान्त एक प्रकार से सर्वथा स्वतंत्र थे और प्रायः सभी प्रजासत्तात्मक थे। विक्रम-कालीन भारत में इस प्रकार निम्न १६ गणतंत्र स्वतंत्र राज्योंका मौजूद होना पाया गया है उनके नाम यह हैं–

नाम देश	राजधानी
१ अंग	अंग
२ मगध	पाटलीपुत्र
३ काशी	बनारस
४ कौशल	अयोध्या

नाम देश	राजधानी
५ वाजी	बाजी
६ मल्ल	मुलतान
७ चेरी	चेरी
८ वत्स	कौशाम्बी
९ कुरु	हस्तिनापुर
१० पांचाल	पांचाल
११ मत्स्य	मत्स्य
१२ सौरसेन	द्वारिका
१३ अवन्ती	उज्जयनी
१४ गान्धार	कन्दहार
१५ काम्बोज	खम्बात
१६ आन्ध	आन्ध

यद्यपि उक्त १६ गणतंत्रराज्य स्वतंत्र थे परन्तु फेडरेशन की भांति उन्हें मगध कौशल, अवन्ति तथा वत्स का अधिपत्य स्वीकार करना पड़ता था।

सम्राट् विक्रम को कई स्थानों में 'माण्डलेश्वर' कहा गया है इसके माने यह हैं कि उसके मातहत सम्पूर्ण शासन 'गणतंत्र'रूप से चलता था और सम्राट विक्रम की आजकलके अमरीकन प्रेजीडेण्ट से तुलना की जा सकती है। विक्रमकालीन ९ सभासदों का भी हम उल्लेख पाते हैं। हमारी समझ में वे ६ सभासद अपनी २ योग्यता के बल पर विक्रम ने ठीक उसी तरह चुने थे जिस तरह आजकल अमरीका का प्रेजीडेन्ट अपने मंत्रिमण्डलको चुनता है। किसी योग्य व्यक्ति को

अपनी केबिनेट अथवा अपने राज दरबार में मान देना अथवा नियुक्त करना विक्रम के आधीन था। अतः विक्रम-कालीन जो राजसत्ता थी वह वर्तमान अमरीकन प्रजातंत्र प्रणाली जैसी प्रतीत होती है।

सम्राट विक्रम का कभी किसी ग्रन्थ में राजसी जीवन व्यतीत करते हुए उल्लेख नहीं किया गया है। जहां २ जिस २ समय उनका जिक्र आया है, वे प्रजावत्सल, प्रजासेवक तथा गणजननायक नाम से सम्बोधित किये गये हैं।

दूसरी बात यह है कि कई स्थानों पर विक्रम-कालीन जो सिक्के हैं उनमें 'जय-मालवांना' शब्द अंकित है। इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम प्रजा द्वारा चुने हुए सम्राट थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाम के सिक्के न चलाकर 'मातृभूमि' के नाम से ही सिक्के चलाये थे।

तीसरी बात, जहां कहीं हम विक्रमकालीन गाथा का उल्लेख पाते हैं वहां वहां सम्राट विक्रम स्वयं राज्य का सारा काम देखते हैं। वह युद्ध में स्वयं सैन्यसंचालन करते हैं, न्याय के लिये स्वयं निर्णायक बनकर इन्साफ करते हैं। इन बातों से यह सिद्ध होता है विक्रम प्रजा द्वारा निर्विरोध चुने हुए गणतंत्रप्रणाली के प्रतिनिधि स्वरूप थे। विक्रम के पिता एक छोटे से माण्डलीक नरपति थे। विक्रम ने अपने काल में जावा, सुमात्रा, सिलोन के राजाओं व राजकुमारों को भी अपने गणतंत्र राज्य में मिलाया। अन्यथा उक्त राजे बगैर युद्ध किये कभी विक्रम की सत्ता स्वीकार न करते।

सम्राट विक्रम शैव धर्मानुयायी क्षत्री थे। पर उन्होंने कभी भी बौद्ध अथवा जैन प्रजा के खिलाफ आवाज नहीं उठाई और न उन्हें

सताया। इसके विरुद्ध उन्होंने प्रजा के हित के लिए बगैर सोचे विचारे व भेदभाव किये अधिक से अधिक त्याग किया। सम्राट विक्रम के वंशजों के सम्बन्ध में इतिहास में बहुत कम मसाला मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि उनका राज्यसिंहासन गणतंत्रप्रणाली के अनुसार उस कालके अन्य किसी व्यक्ति को दिया गया हो। क्योंकि विक्रम के बाद उनके राजकुमारों अथवा पुत्रों का किसी भी इतिहास में सम्राट होने का जिक्र नहीं मिला है। ऐसी कई बातें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि विक्रम गणतंत्र प्रजासत्तात्मक राष्ट्र के चुने हुए प्रेजीडेन्ट अथवा सम्राट थे।

वीर विक्रम के नवरत्न और सभासद

सम्राट् वीर विक्रम जहां सुभट योद्धा थे और पराक्रमी सम्राट् थे, वहां वह साहित्य, संगीत और कला के बड़े मर्मज्ञ थे। वे बड़े दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ और महानगुणी थे। वे इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि केवल पशुबल से जीता हुआ राज्य अधिक दिनतक नहीं चल सकता। अत: उन्होंने देशभर में विद्वानों और गुणीजनों का आदर करना शुरु किया। यह बात जगतप्रसिद्ध है कि सम्राट् विक्रम के दरबार में ९ रत्न उपस्थित रहते थे जिनकी ख्याति सारे विश्व में थीं। उन नवरत्नों के नाम इस प्रकार हैं:—

धन्वन्तरी अमरसिंह क्षपणक शंकू, बेतालभट्ट घटकर्पर कालिदासः।
ख्यातो वराहमिहरो नृपते सभायां, रत्नानि वे वररूचि नवविक्रमास्यः॥

अर्थात् (१) धन्वन्तरी, (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकू (५) बेतालभट्ट (६) घटकर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहर और (९) वररूचि नाम के नवरत्न सम्राट् विक्रम की सभा के सदस्य थे।

उक्त सभी नवरत्न विद्वान थे और प्राय: इनमें से सभी ने बड़े बड़े ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से बहुत से ग्रन्थ अभीतक मिलते हैं और कुछेक अप्राप्य हैं। जो ग्रन्थ अभी नहीं मिलते हैं उनके कुछेक वाक्य अन्य ग्रन्थों में उधृत पाये जाते हैं।

अंग्रेजी विद्वानों ने और खासकर डाक्टर फ्लीट महोदयने इन विद्वानों को ईसा की चौथी शताब्दि में होना बताया है और वे कहते हैं कि ये सभी विद्वान सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में हुये थे। यूरोपियन इतिहासकारों की देखादेखी कुछेक भारतीय विद्वानों ने भी उनकी हां में हां मिलाई और अभीतक कुछेक विद्वान यह कहते हैं कि ये सब चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के ही नवरत्न हैं। परन्तु हम इस बिचार से सहमत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि जिस प्रकार वीर विक्रमादित्य के बाद कई उपाधिधारी विक्रमादित्य हुये उसी प्रकार विक्रमादित्यों के नवरत्नों की भांति हरेक उपाधिधारी विक्रमादित्य के दरबार में भी कालिदास आदि कई नवरत्न मंडलियां बनती गयीं।

विक्रम के दरबारियों में सबसे अधिक ख्याति कालिदास की है। इस सम्बन्ध में अभीतक यह पता नहीं चला है कि कालिदास कौन थे? इनका जन्म कहां हुआ था? जिस प्रकार कई विक्रम हुये उस प्रकार कई कालिदास भी हुये। अबतक हमने चार कालिदासों का पता लगाया है। प्राय: सभी कालिदास अपने समय के सर्वोत्कृष्ट विद्वान हो गये हैं और इनमें से प्रत्येक कालिदास का जीवनचरित्र विक्रमकालीन कविवर कालिदास से इतना मिलजुल गया है कि इनमें भेद करना बहुत कठिन है। हमने निम्न कालिदासों का पता लगाया है:—

(१) कालिदास [वीर विक्रमकालीन आजसे २००० वर्ष पूर्व]

(२) मातृगुप्ताचार्य उर्फ कालीदास [चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कालीन आजसे १६०० वर्ष पूर्व]

(३) श्रुतसेन उर्फ कालिदास [हर्ष विक्रमादित्य कालीन आजसे १४०० वर्ष पूर्व]

(४) कुमारदास उर्फ कालिदास [भोज विक्रमादित्य कालीन आजसे १००० वर्ष पूर्व]

कविवर कालीदास

कालिदास के जन्मकाल के सम्बन्ध में अभीतक निश्चित तिथि नहीं मालूम हुयी है और न हीं उनके जन्मस्थान का निश्चय हो पाया है। परन्तु यह बात सर्वमान्य है कि कालिदास विक्रमकालीन हैं। अतः उनका जन्म भी लगभग ईसासे पूर्व पहिली शताब्दि में हुआ होगा। कुछ लोगों का मत है कि इनका जन्म बंगाल के नादिया जिले में हुआ था। कुछ लोग इन्हें काश्मीरी ब्राह्मण बताते हैं और कुछ की धारणा है कि ये उज्जैन में जन्मे थे। परन्तु इतना निश्चित है कि वे उज्जैन में रहे थे, क्योंकि उनकी पुस्तकों में उज्जैन का अभूतपूर्व वर्णन मिलता है साथ ही उन्हें तत्कालीन मालवे का भौगोलिक ज्ञान भी बहुत अधिक है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास मालवे ही में जन्में। मालवा की राजधानी उज्जयनी के सम्बन्ध में कविवर कालिदास की कलम का चमत्कार 'मेघदूत' महाकाव्य में देखिये। यथा:—

"दीर्घी कुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारमाना,
प्रत्यूषेषु स्फुटित कमला मोदमैत्री कषायः।

यत्र स्त्रीणां हरति सुरत ग्लानि मङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना वादुकारः ॥ १ ॥ ”
“ हारास्तारांन्तर गुटिका कोटिशः शङ्खयुक्तिः,
शस्यश्मरमान्मरकतमणि नुन्ययूख मरोहान ।
दृष्ट्वा यस्यां विपणि रचितां ऽ न्वे माणां च झङ्गा,
न्सलक्ष्यन्ते सलिल निधमस्तोय मात्रा व शेषः ॥ २ ॥ ”

उक्त श्लोक इस बात को सिद्ध करने में पर्याप्त प्रमाण है कि कालिदास का उज्जैन से बहुतही धनिष्ट सम्बन्ध तथा उसे गहरा ज्ञान था।

उज्जयनी का इतना गहरा ज्ञान होने के कारण हम यह बात बल पूर्वक कह सकते हैं कि कालिदास का जन्म मालवे में हुआ था और यह मालवीय ब्राह्मण थे। इनका जन्म एक साधारण ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके सम्बन्ध में एक आख्यायिका प्रसिद्ध हैं कि वे बालकाल में महामूर्ख थे। बचपन में गाय भैंस चुगाने जंगल में जाते और लकड़ी चीरते थे। बालकाल में पढ़ना लिखना कुछ नहीं हुआ।

जिस काल में ये जंगल जंगल में भ्रमण करते थे उसी काल में विद्यावती नाम की एक महापंडिता राजकुमारी भी हुयी थी। उसने घोषणा की हुयी थी कि जो कोई विद्वान उसे शास्त्रार्थ में हरा देगा वह उसी से विवाह करेगी। उसकी इस घोषणा पर बड़े बड़े दिग्गज विद्वानोंने उससे शास्त्रार्थ किया और हार खाकर चले गये। अन्त में इन सभी विद्वानों को लज्जा मालूम हुयी और इन्होंने यह निश्चय किया कि इस राजकुमारी का विवाह किसी महामूर्ख से कराना चाहिये। अतः वे सब किसी महामूर्ख की तलाश में निकले। चलते चलते रास्ते में इन विद्वानों ने देखा कि एक व्यक्ति एक पेड़ की उस शाखा

को काट रहा है जिसपर वह बैठा है। उसे इतनी भी समझ नहीं है कि वह पेड़ की शाखा के कट जाने पर स्वयं नीचे आ गिरेगा। पंडितों ने बड़े मानसम्मान से उस व्यक्ति को पेड़ से नीचे उतरवाया और उसे समझाया कि उसकी शादी एक विद्या नाम्नी राजकुमारी से करादी जावेगी। पहिले तो उसने पंडितों की बातों पर विश्वास नहीं किया परन्तु समझाने बुझाने पर वह राजी होगया। पंडितों ने उसे यह भी पट्टी पढ़ादी कि वह राजकुमारी के सामने बोले नहीं और मौनधारण कर रखे। इस प्रकार उसे सिखापढ़ाकर वह विद्वत्मंडली कालिदास को शास्त्रार्थ करने के निमित्त उस राजकुमारी के पास लेगयी।

तब एक दिन नियत समय पर सभा में उस राजकुमारी से कालिदास का शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। विद्वानों ने आरंभ में यह घोषणा करदी कि "हमारे पूजनीय गुरुजी आजकल मौन धारण किये हुये हैं। अतः शास्त्रार्थ केवल संकेतों के जरिये ही होगा।" राजकुमारी ने भी यह बात स्वीकार करली। इसके बाद शास्त्रार्थ संकेतोंद्वारा आरम्भ हुआ। विद्या राजकुमारी ने तब १ अंगुली उठायी जिसका अभिप्राय यह था कि परमात्मा एक है। इसपर उस मूर्ख ने समझा कि राजकुमारी एक अंगुली उठाकर उसकी एक आंख फोड़ना चाहती है। अतः उसने २ अंगुलियां उठाकर राजकुमारी की दोनों आखें फोड़नी चाही। तब उसके इन दो अंगुलियों के उठाने पर विद्वतमंडली ने इसका बड़ा गूढ़ अर्थ निकाला और कहा कि आत्मा और परमात्मा दो भिन्न २ वस्तुयें हैं। अन्त को राजकुमारी को हार मानकर उससे विवाह करना पड़ा।

विवाह हो चुकने के बाद जब कालिदास रनिवास में थे तो रात्रि के समय बाहर से एक ऊंट के चिल्लाने की आवाज आयी।

राजकुमारी ने पूछा कि यह किसकी आवाज हैं तो कालिदास बोले कि यह " उट्र " है। अर्थात् वह ऊंट शब्द का भीं शुद्ध उच्चारण नहीं कर सके। राजकुमारी को पंडितों द्वारा किया हुआ यह छल अब मालूम हुआ। अत: आवेश में आकर उसने कालिदास को खिड़की से नीचे धकेल दिया और वे नीचे आ गिरे जिससे उनको चोट पहुंची और रक्त निकल आया। उनके शरीर का वह रक्त वहीं पर स्थित देवी की मूर्ति पर गिरा। नररक्त को पाकर देवी प्रसन्न हुयीं और उन्होंने कालिदास से कहा--" वरं ब्रूहि।" अर्थात् वर मांगो। कालिदास ने समझा कि देवी पूछती है कि किसने तुमको मारा? अत: उसने उत्तर दिया--" विद्या "। अर्थात् राजकुमारी विद्या ने मुझे मारा है। देवी " तथास्तु " कहकर अन्तर्धान होगयी।

अब पीछे कालिदास को होश आया। साथ ही उसे आत्मग्लानि भी हुयी। आत्मग्लानि ने आत्मवंचना तथा उससे आत्माभिमान जाग्रत हुआ। अब इन्हें विद्याध्ययन की सूझी और भगवती का भी वरदान मिला हुआ था। अत: 'विद्या' पढ़ते की धुन में ये ऐसे संलग्न हुये कि संस्कृत साहित्य में ये अब भी संसार के सबसे उत्कृत विद्वान माने जाते हैं। इस प्रकार कई वर्षों तक गुप्तवास करके कालिदासने विद्याध्ययन किया और जब अन्त को पंडित बनकर घर लौटे तो इन्होंने प्रीयसी विद्यादेवी का दरवाजा खटखटाया और संस्कृत में कहा-"अनावृत्त कपाटं द्वारंदेहि" अर्थात् किवाड़ खोलो। राजकुमारी विद्या ने इनकी आवाज पहिचानी और उत्तर दिया—अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः " अर्थात् अब वाणी में कुछ विशेषता है।

अपनी प्रेयसी के उक्त शब्द सुनकर कविवर कालिदास ने " अस्ति " शब्द को लेकर अस्तुत्तरस्यां.... अर्थात् " कुमारसंभव "

" कश्चित् " को लेकर कश्चित कान्ताविरह....अर्थात् " मेघदूत " तथा " वाग्विशेषः " को लेकर " वागर्थाविव संपृक्तो...." अर्थात् "रघुवंश" नामक इन तीन महाकाव्यों की रचना की और संस्कृत साहित्य में अबभी उक्त ग्रन्थ अपनी विशेषता रखते हैं। बहुत लोगों का कहना है कि सब मिलाकर इन्होंने १८ ग्रन्थों की रचना की परन्तु हम इस बात से सहमत नहीं है। हां इतना अवश्य है कि रघुवंश, मेघदूत व कुमार संभव के अलावा इन्होंने ज्योतिर्विदाभरण तथा अन्य एक दो ग्रन्थ और लिखे है। मालविकाग्निमित्र, ऋतुसंहार, शकुन्तला, राक्षस काव्य, श्रुतबोधकाव्य आदि ग्रन्थ इस विक्रमकालीन कालिदास के नहीं हैं। इस सम्बन्ध में हम विशेष वर्णन पीछे करेगें। अतः इतना हम मानते हैं कि संस्कृतसाहित्य के ये सर्वोत्कृष्ट कवि हो गये हैं।

कालिदास के अतिरिक्त विक्रमादित्य की सभा के अन्य जो विद्वान थे उनका थोड़ा जिक्र यहांपर दिया जाता है। इससे पाठकों को तत्कालीन शिक्षा सम्बन्धी व राजकीय स्थिति का थोड़ा सा ज्ञान होगा।

१–धन्वंतरि

वीर विक्रमादित्य की सभा के सर्वपूज्य नवरत्नों में से थे। आप को आयुर्वेद का अगाध ज्ञान था। आपने कई ग्रन्थ आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र पर लिखे हैं। भारतवर्ष के वैद्यगण अभी भी धन्वन्तरि जयन्ती मनाया करते हैं क्योंकि महात्मा धन्वन्तरि आयुर्वेदशास्त्र के जन्मदाता समझे जाते हैं। इनके जन्म तथा जीवनकालीन बहुत कम घटनायें अभी प्राप्त हैं।

२–अमरसिंह

वीर विक्रम की सभा के मांननीय नवरत्नों में से एक थे। आप बौद्धधर्मावलम्बी थे क्योंकि इनके बनाये हुये प्रसिद्ध ग्रन्थ अमरकोष के आरंम्भ में "नामलिङ्गानुशासनम्" लिखकर आपने किसी आर्यदेवी या देवताकी पूजा व अर्चना नहीं की है किन्तु आरम्भ ही आपने भगवान् बौद्ध की अर्चना से किया है।

अमरकोष संस्कृत साहित्य का अभूतपूर्व ग्रन्थ है। व्याकरणके सम्बन्ध में कहावत भी है कि "अष्टाध्यायी जगन्मातामरकोषोजगत्पिता" अर्थात् यदि "अष्टाध्यायी" व्याकरणकी जगतमाता है तो "अमरकोष" व्याकरण का जगतपिता है। यह केवल कोषकार ही नहीं थे बल्कि प्रसिद्ध वैयाकरणी पंडित भी थे। कुछ लोगों की धारणा है कि ये जैन थे परन्तु अधिकांश में लोग इन्हें बौद्ध ही समझते हैं।

अमरसिंह के सम्बन्ध में निम्न श्लोक भी कुछ महत्व रखता है:—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्न पिशली शाकटायनः
पाणिन्यमर जैनेन्द्राजयन्त्यष्टौच शाब्दिकाः॥"

अमरसिंह के प्रसिद्ध ग्रन्थ अमरकोष की आज भी कई टीकायें उपलब्ध हैं।

३–क्षपणक

मालवा के सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के यह जैनधर्मावलम्बी पंडित थे। इन्होंने अपने उपदेशों से सम्राट् विक्रम को जैनधर्म की ओर खींचा था। इनके बाल्यकाल का नाम कुमुदचन्द था। परन्तु बाद में आप सिद्धसेनदिवाकर कहजाये जाने लगे। जैनियों में अभी भी यह आख्यायिका प्रसिद्ध है कि इन्होंने तपोबल से उज्जैन के महाकाल के

शिवलिंग को पहिले भष्म कर दिया था और बाद में 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ करके उस स्थानपर जैन तीर्थाङ्कुर की मूर्ति उत्पन्न करदी थी। परन्तु यह बात केवल दन्तकथा सी मालूम होती है।

बहुतसे विद्वानों का कहना है कि क्षपणक संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ पंडित थे। आपने सब मिलाकर लगभग ३२ ग्रन्थों की रचना की जिसमें से २१ अबतक उपलब्ध है। कुछ लोगों का कहना है क्षपणक बौद्ध थे क्योंकि क्षपणक बौद्ध लोगों की आचार्यवाची शब्द है परन्तु इसमें हमें सन्देह है।

४—शंकु

शंकु एक उच्चकोटि के गणक थे। आयुर्वेद तथा ज्योतिषशास्त्र में भी इनका गहरा ज्ञान था। कहीं २ पर इनको शंकुक कह करके संकेत किया गया है। सम्प्रति इनका लिखा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है किन्तु कुछ अन्य ग्रन्थों में इनके फुटकर वाक्य मिलते हैं।

५—वेतालभट्ट

इनका निवासस्थान कुसुमपुर, पटना में बताया जाता है। कुछ लोग इन्हें विक्रमादित्य के महामंत्री बताते हैं। ये बड़े तांत्रिक नीति-निपुण तथा विचक्षण थे। इनका लिखा हुआ 'रुद्रयामल' नामक ग्रन्थ अब भी मिलता है। कहते है कि वेतालभट्ट स्वयं एक बेताल महा-शक्ति थे। किम्बदन्तियों के आधार पर हम 'वेतालपचीसी' 'सिहासन बत्तीसी' आदि कहानियां भी इन्हीं की लिखी हुयी बता सकते हैं।

कहते है कि जब सम्राट् विक्रम ने पाटलीपुत्र पर विजय प्राप्त की तो यह भी उनके साथ पटना से उज्जैन आये।

६--घटकर्पर

घटकर्पर नाम से ही ज्ञात होता है कि ये महाशय जाति के कुंभकार थे। इनपर सरस्वती की वह कृपा थी कि जब ये अपने घड़े की चलती हुयी चाक देखते थे तो इनके विचारों पर तूफान आने लगता था। कहते हैं कि इन्होंने चलते हुये चाक पर ही एक काव्य लिख डाला था। 'घटकर्पर' नामक संस्कृत काव्य भी इन्हीं की रचना मालूम होती है। इसके केवल चंद श्लोक ही अब मिलते हैं। यह बड़े दार्शनिक विद्वान थे और कालिदास के साथ इनकी प्रतिद्विन्दता बतायी जाती है।

यह भी कहा जाता है कालिदास के कहने पर इनकी पत्नी ने इन्हें बासी भोजन खिलाना शुरु किया जिससे इनकी प्रतिभा हीन होने लगी और वे अपने विचारों को विकसित न कर सकें। यह वही घटकर्पर हैं जिन्होंने भगवती सरस्वती द्वारा कालिदासको दिया हुआ १ गिलास दूध अपनी स्त्री के डाटने पर जहर समझकर पी लिया था अत: वे उसे पीकर उत्कट विद्वान हो गये थे।

घटना यह है कि एकबार जब भगवती सरस्वती कालिदास पर प्रसन्न थी तो उन्होंने उसे १ गिलास दूध पीने को दिया था। और कहा था कि तू इसे पीकर उत्कृष्ट विद्वान होगा। रास्ते में स्नान करने के निमित्त कालिदास ने वह गिलास एक कुम्हार के घर में रख दिया और कहा कि इसमें जहर हैं। जब कालिदास स्नान करने को गये हुये थे तो कालिदास ने कुम्हारिन को बोला कि इस गिलास में जहर हैं। अत: इसे कोई न पीवें। इसी बीच में कुम्हार तथा कुम्हारिन में झगड़ा हुआ और कुम्हार ने क्रोध में आकर उस जहर को पी लिया

और उसे पीकर वह अमर कवि हो गया। यह वही घटकर्पर हैं जिन्होंने घड़े की चाक पर कविता ही नहीं की बल्कि काव्य लिखे हैं।

७ कालिदास

कालिदास के सम्बन्ध में उपर कथन किया जा चुका है कि कालिदास ४ हुये हैं। अबतक चार कालिदासों का पता लगाया जा चुका है। सब ही अपने २ समय में अपनी २ ख्याति के लिये प्रसिद्ध थे। सब ही ने अलग २ ग्रन्थों की रचनायें की और सब ही अलग २ समय में हुये जिनका वर्णन बाद में दिया जावेगा।

८ वाराहमिहर

सम्राट् विक्रम की सभा के नवरत्नों के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। आप का जन्म यू. पी. के कालपी नगर में बताया जाता है। आप के पिता का नाम आदित्यदास था। आजीविका के निमित्त आप उज्जैन नगर चले गये थे ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि:—

" आदित्यदास तनयस्तदवाप्तबोधः
काम्पिलके सवितृलब्धपरप्रसाद।
अवन्तिको मुनिमतान्य वलोक्य सम्यग्योरा
वराहमिहरोरुचिरांचकार॥ "

अर्थात् कालपी के रहनेवाले आदित्यदास के पुत्र वाराहमिहर आजीविका के निमित्त उज्जैन पहुंचे। वाराहमिहर बहुत बड़े विद्वान हो गये हैं। इन्होंने ज्योतिष की तीनों शाखाओं पर–(१)तंत्र (गणित) (२) जातक (कुण्डली), और (३) संहिता (फलित ज्योतिष)–ग्रन्थ

लिखे हैं । आपके लिखित ग्रन्थों में (१) लघुजातक (२) बृहद्जातक (३) विवाह पटल, (४) योगमाया (५) बृहद्संहिता तथा (६) पंचसिद्धा-लिका अभी प्राप्त हैं। वाराहमिहर से पूर्व भी कुछेक ज्योतिष ग्रन्थ मौजूद थे परन्तु उनके लेखक का पता नहीं चलता है ।

९–वररुचि

वीर विक्रमादित्य की सभा के अगाध पंडितों में महान वैयाकरणी थे। यह पाणिनिके के प्रतिद्वन्दी हो गये हैं। इनकी माता की नाम वसुदत्ता तथा पिता का नाम सोमदत्त था और ये कौशाम्बीनगर के निवासी थें। इन्होंने पाणिनि को शास्त्रार्थ में हराया। कथासरित्सागर में वररुचि कात्यायन को नन्द राजा का महामंत्री बताया गया है। इन्होंने भी कई ग्रन्थ लिखे हैं। कई वररूचियों के होने का बाद मे जिक्र आया है। इन्होंने "सुभाषितावली" तथा 'सारङ्गधर' नामक महाकाव्यों की रचना की है।

उपाधिधारी कालिदास

जिस प्रकार आजसे २००० वर्ष पूर्व वीर विक्रमादित्य के दरबार में कालिदास आदि ९ रत्न थे उसी प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय के दरबार में भी कालिदास आदि नाम के ९ उपाधिधारी नवरत्नों की पंडित मंडली मौजूद थी।

(१) मातृगुप्ताचार्य उर्फ कालिदास

'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मातृगुप्त जन्म से ही निर्धन थे परन्तु वे बालकाल ही से कविता करने लग गये थे। रोजी के लिये बहुत भटकने फिरने पर अन्त में वे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार उज्जैन में पधारे। यहां भी द्वारपाल ने उन्हें राजदरबार में नहीं जाने दिया परन्तु अकस्मात् अर्धरात्रि को सम्राट् ने द्वारपाल को पुकारा। द्वारपाल सोते थे। ये जागते थे। उन्होंने उस शीतकाल की रात्रि में अपनी दयनीय दशा का वर्णन निम्न श्लोकरूप में महाराज को लिख भेजा:—

" शीतेनोद्धूषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
शान्ताग्नी स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निन्द्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सत्यज्य दूरं गता,
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥ "

इस श्लोक का भावार्थ यह है कि "मैं उड़द की फली की भांति पाले से थर्रा रहा हूं, होंठ मेरे फट गये हैं। आग बुझती जाती है और उसे सुलगाने के प्रयत्न में मैं उसे फूंक रहा हूं। भूख से मेरा कण्ठ सूख गया है। मेरी दयनीय दशा देखकर अपमानित भार्या की तरह नींद मुझे छोड़कर चली गयी है और सुपात्र को दान में दी गयी पृथ्वी की तरह रात्रि समाप्त नहीं होती है।"

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य गुणग्राहक तो थे ही। अतः उन्होंने ऐसी भावपूर्ण कविता पर प्रसन्न होकर काश्मीर की गद्दी उन्हें देदी क्योंकि वहां का राजा हिरण्य मर गया था। उसका भतीजा प्रवरसेन यात्रा में गया हुआ था। इसप्रकार ४ वर्षतक मातृगुप्त उर्फ कालिदास ने काश्मीर में राज्य किया और प्रवरसेन के लौटने पर उसे गद्दी वापिस देदी और आप सन्यासी हो गये।

भर्तृमेण्ट, भारवी, भवभूति आदि कवि इन्हीं के समकालीन हो गये हैं। इनके लिखे हुये सेतुकाव्य, मालविकाग्निमित्र, शाकुन्तल, विक्रमोर्वसी, ऋतुसंहार आदि ग्रन्थ हैं। बहुतसे विद्वान इसबात को स्वीकार नहीं करते कि मातृगुप्त कालिदास ही हैं। परन्तु यथार्थ में ये द्वितीय विक्रमादित्य के दरबार में द्वितीय कालिदास हैं।

(२) श्रुतसेन उर्फ कालिदास

सम्राट् हर्ष विक्रमादित्य के दरबार में भी मयूरभट्ट, बाणभट्ट, दिवाकर, दण्डीकवि, कालिदास आदि वीर विक्रमादित्य की ही तरह नौ रत्न हो गये हैं। कहते हैं इस हर्षकालीन कालीदास का पुराना नाम श्रुतसेन था। ये कभी २ अपने समकालीन कवियों से लड़ पड़ते थे। अतः एकदिन दण्डी कवि से भी लड पडे। इस सम्बन्ध में निम्न आख्यायिका प्रसिद्ध है:—

यह कविवर कालिदास संस्कृत के अगाध पंडित थे और प्रतिभाशाली कवि थे। कहते हैं कि एकबार कवि दंडी और कालिदास में इस बात पर झगड़ा हुआ कि इन दोनों मे कौन सर्वोत्कृष्ट है। अन्त को ये दोनों लड़ते झगड़ते सरस्वती के दरबार में पहुंचे और उनसे प्रार्थना की गयी कि वे अपना इस सम्बन्ध में फैसला दे कि कौन सर्वोत्कृष्ट कवि है? बड़ी घोर तपस्या के बाद सरस्वती देवी प्रकट हुयीं और उन्होंने कहा—"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः"। अर्थात् दण्डी हो सर्वश्रेष्ट कवि हैं इसमें कोई संशय नहीं है। इसपर कालिदास बहुत बिगड़े और उन्होंने सरस्वती को बुराभला कहा। तब सरस्वती ने स्वयं कहा—"कालिदास! कवि तो दंडीही हैं। तुम कवि ही नहीं बल्कि सरस्वती के अवतार हो।" ऐसा कहकर सरस्वती अन्तर्धान हो गयी। तब कालिदास को सन्तोष हुआ। इस से सिद्ध होता है सम्राट् हर्षविक्रम स्वयं सूर्य के अवतार थे और कालिदास सरस्वती की साक्षात् मूर्ति थे।

इन कालिदास ने भी कई ग्रन्थों की रचना की है। श्रुतबोध काव्य, राक्षसकाव्य, आदि कई ग्रन्थ इनके बताये मिलते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि हर्षविक्रमकालीन कालिदास श्रुतसेन ही हैं।

(३) कुमारदास उर्फ कालिदास

भोज विक्रम के प्रसिद्ध नवरत्नों में कुमारदास उर्फ कालिदास बहुत बड़े पंडित हो गये हैं। राजा भोज व कालिदास की कहानियों से बहुत से ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यह भी अन्य पूर्वोक्त तीनों कालिदासों की तरह संस्कृतके अगाध पंडित थे और महाराज भोज विक्रमादित्य के नवरत्नों मे से एक थे।

कविवर 'राजशेखर' ने इनके सम्बन्ध में लिखा हैं:—

" जानकी हरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥ "

अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि 'रघुवंश' काव्य तथा सूर्यवंश के रहते हुये यदि किसी की इच्छा 'जानकीहरण' काव्य तथा जानकीहरण कर सकने की है तो वे केवल कुमारदास तथा रावण ही हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार भगवान रामचन्द्र के होते हुये रावण ने जानकीहरण किया उसीप्रकार कालिदासकृत 'रघुवंश' काव्य के होते हुये कुमारदास उर्फ कालिदास ने (जानकीहरण) काव्य रचा है। एकबार राजा अपने राज्य से बाहर चले गये तो लोगों में बड़ा शोक हुआ। इसपर भोज विक्रमादित्य की धारा नगरी के सम्बन्ध में कविवर कालिदासने निम्न श्लोक बनाया—

" अद्यधारा निराधारा भोज राजे दिवंगते "

अर्थात् राजा भोज के मरजाने पर अब धारा नगरी निराश्रित हो गयी। जब राजा भोज लौटकर आ गये तो फिर उन्होंने निम्न श्लोक की पूर्ति कीं:—

" अद्यधारा सदाधारा भोजराजे भुवंगते "

अर्थात् भोज राजाके लौट आने पर अब धारा नगरी सदा भरपूर रहेगी।

सिंहल राज्य की वंशावली में जिक्र आता है कि एकबार राजा कुमारदास सिंहलने कालिदास को अपने यहां बुलाया। कालिदास लंका गये और किसी सुन्दरी के यहां इनका आना जाना आरम्भ हुआ। दुर्भाग्यबश कालिदास पकड़े गये और मारे गये। मित्र का इस प्रकार

दुखद अन्त देखकर स्वयं कुमारदासने कालिदास की चिता पर जलकर आत्महत्या की। अभीतक लोग कहते हैं इस कालिदास की समाधि लंका के दक्षिण में मौजूद है।

इन कालिदास के रचे हुये ग्रन्थ पुरुषार्थचिन्तामणि, रस गंगाधर, काव्यप्रदीप, उपमालंकार आदि बताये जाते हैं।

इस प्रकार देखा गया है कि उपाधिधारी विक्रमों की तरह अब तक ४ कालिदासों का पता चला है जो भिन्न भिन्न समय में हुये और सबने संस्कृत साहित्य के विकास में हाथ बंटाया।

———
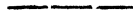
विक्रमकालीन साहित्य, संगीत व कला

यह बात सर्वथा सही है कि जब कभी जिस किसी राज्य में प्रजा सुखी रहती है तो उस राज्य में साहित्य, संगीत तथा कला की वृद्धि होने लगती है। सम्राट् वीर विक्रम ने हर प्रकार से प्रजा को सुखी रखने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह निकला कि उनके राज्य में साहित्य, संगीत तथा कला की भी खूब वृद्धि हुयी। साहित्य के क्षेत्र में नये नये ग्रन्थ लिखे गये। कवियों, लेखकों तथा गुणीजनों का आदर व मान होने लगा। इसके परिणामस्वरूप साहित्य के प्रायः सभी क्षेत्रों में ग्रन्थों की अभिवृद्धि हुयी।

वीर विक्रम के जितने भी सभासद थे वे प्रायः अपने ढंग के अनूठे विद्वान थे। इनमें सभी ने भिन्न २ विषयों पर ग्रन्थ लिखे हैं। ज्योतिष, व्याकरण, काव्य, नाटक, वैद्यक आदि विषयों का सत्साहित्य विक्रमकाल में खूब फला फूला।

बहुत से विद्वानों की धारणा है कि अकेले कालिदास ने विक्रमकाल में १८ प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे। परन्तु ढूढ़खोज करने के बाद जहांतक हमें पता चला है हमारी समझ से विक्रमकालीन कालिदास के केवल चार ही ग्रन्थ हैं और वह हैं—१ रघुवंश, २ मेघदूत, ३ कुमार-संभव तथा ४ ज्योतिर्विदाभरण। इन चार ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य

किसी भी ग्रन्थ का विक्रमकालीन कालिदास द्वारा निर्मित किये जाने का प्रमाण नहीं मिला है।

अब यहांपर यह प्रश्न है कि १ मालविकाग्निमित्र, २ ऋतुसंहार ३ शकुन्तला महाकाव्य, ४ राक्षसबोध, ५ श्रुतबोध, ५ विक्रमोर्वषी, ६ पुरुषार्थचिन्तामणि, ७ रसगंगाधर, ८ काव्यप्रदीप, ९ उपमालंकार, १० सेतुकाव्य, ११ जानकीहरण आदि ग्रन्थ किसकी रचनायें हैं ? इस सम्बन्ध में हमारा यह कहना है कि हमने पहिले ही चार कालिदासों का जिक्र किया है जिनमें प्रथम विक्रमकालीन कालिदास के तथा अन्य ग्रन्थ पीछे के उपाधिधारी कालिदासों के हैं। परन्तु यह सारा विषय अभी विवादास्पद बना है। संभव है कि पूर्ण अनुसंधान होने के पश्चात् सत्यासत्य का निर्णय हो सकेगा।

विक्रमकाल में संस्कृतभाषा का बहुत अधिक प्रचार हुआ। प्रायः हरेक व्यक्ति इस काल में शिक्षित था। आज के भारतवर्ष तथा तत्कालीन भारतवर्ष में इतना फरक है कि आज भारतवर्ष में शिक्षितों की संख्या बहुत थोड़ी है? संभवतः ५ सैकड़ा और उच्च शिक्षितों की संख्या का क्या कहना है! परन्तु २००० वर्ष के प्राचीन भारत में प्रायः सभी लोग शिक्षित थे। शिक्षित ही नहीं उच्च शिक्षित थे। यहांतक कि लकड़हारे जैसे साधारण व्यक्ति भी संस्कृतभाषा में काव्यरचना कर सकते थे। इन सब बातों से यह सिद्ध होता था है कि विक्रमकालीन भारत में शिक्षा अनिवार्य थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार गुरू के घर में रहता था और शिक्षा ग्रहण करता था। यही कारण है कि सर्वसाधारण की रूचि काव्य और साहित्य की ओर थी।

'मेघदूत' में एक स्थान पर जिक्र आया है:—

" प्रद्योतस्य प्रिय दुहितरं वत्सराजोऽय जह्रे।"

अर्थात् किस प्रकार वत्सराज उदयन प्रद्योतकुमारी को भगाले गया ? इस सम्बन्ध में यह कथा प्रसिद्ध हैं कि मगध के राजा प्रद्योत बहुत बड़े शूरवीर और योद्धा थे। उनके डरसे आसपास के सभी राजे कांपते थे। एकवार का जिक्र है कि मगधवंशीय राजा प्रद्योत ने वत्सदेश के राजा उदयन पर आक्रमण किया और दोनों ओर से खूब युद्ध हुआ। उदयन भी प्रद्योत की तरह खूब बलशाली था। अतः प्रद्योत उसे तत्क्षण परास्त न कर सका। एक दिन वत्सराज उदयन आखेट के निमित्त जंगल में गया हुआ था। अतः अकेला पाकर प्रद्योत ने उसे पकड़ लिया और उसे बंदीबनाकर अपने राज्य में लाया।

राजा उदयन संगीत विद्या में बहुत प्रवीण था। अतः उसके गुणोंको देखते हुये प्रद्योतराजा ने उसे बंदीगृह से निकालकर अपनी राजकुमारी वासवदत्ता को गान्धर्वविद्या की शिक्षा के निमित्त नियुक्त किया। बहुत कालतक राजा उदयन प्रद्योतकुमारी वासवदत्ता को संगीत की शिक्षा देते रहे। इन दोनों के इस सहवास का यह परिणाम हुआ कि वे दोनों एक दूसरे पर अनुरक्त हो गये। जब इस घटना की खबर उदयन के महामंत्री यौगंधरायण तक पहुँची तो उसने उदयन तथा वासवदत्ता को प्रद्योत के कारागार ने भगाने का षडयंत्र रचा और एक दिन अनुकूल अवसर पाकर वह उन दोनों को वहां से ले भागा। तत्कालीन इतिहासकारों ने इस प्रेम-परिणय की घटना को बड़ा महत्व दिया है और इस सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य भी मिलता है।

कालिदास ने इसी सम्बन्ध में एक स्थल पर लिखा है कि:—

" प्राप्यावंतीन्दुदयन कथा कोविदान्ग्रामवृद्धान्"

अर्थात् गांव के आबालवृद्ध सभी लोग इस वासवदत्ता—उदयन काण्ड–की कथा को बड़े चाव से सुनते व पढ़ते थे। कहते हैं कि इसी घटना के आधार पर " स्वप्नवासवदत्ता " तथा " प्रतिज्ञायौगन्धरायण " नामक दो सर्वोत्तम नाटकों की रचना हुयी है।

उक्त कथानक का यहांपर केवल इसलिये जिक्र किया गया है कि इससे पाठक सहज ही में अन्दाजा लगा सकते हैं कि जब राजघरानों में भी राजकुमार तथा राजकुमारियां संगीत की इसप्रकार कदर करतीं थीं तो फिर सर्वसाधारण का कहना ही क्या है ? राजा उदयन तथा राजकुमारी वासवदत्ता का संगीत प्रेम यह बताता है कि विक्रमकालीन भारत तथा उससे भी पूर्व इस देश में संगीत का बहुत मान था।

भर्तृहरिने भी अपने 'नीतिशतक' नामक ग्रन्थ में स्वयं लिखा है कि—

" साहित्य संगीत कलाविहीनः साक्षातपशुःपुच्छविषाणहीनः।
ते मृत्युलोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्तिः ॥"

अर्थात् साहित्य, संगीत व कला से हीनपुरुष पूंछ और सींगसे रहित पशु के तुल्य हैं। उनकी गणना इसलोक में मनुष्य होते हुये भी पशुओं में हैं । वें इस लोक में केवल भाररूप हैं।

इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि विक्रमकालमें साहित्य संगीत तथा कला की उन्नति हुयी।

महेन्द्रोजारो तथा हरप्पा नगरों की खुदाई के बाद अब यह स्पष्ट हो गया है कि प्राचीनकाल में वस्तुकला. प्रस्तरकला तथा चित्रकला ने अपने २ क्षेत्र में चरमसीमातक उन्नति की। विक्रमकालीन भारत में भी कला सर्वोच्च शिखर पर पहुंची हुयी थी।

"मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक के पात्रों में संगीत, नृत्य तथा अन्य कलासम्बन्धी कार्यों का सम्पादित किया जाना पाया गया है। यहांपर राजा अग्निमित्र की पहिली रानी धारिणी की सहेली मालविका एक परमसुन्दरी है। वह अपने गुरू गणदश से संगीत तथा नृत्य सीखती है। साथ ही वह चित्रकला में बड़ी प्रवीण है। नाटक में उसके बनाये गये चित्रोंका वर्णन मिलता है। इस गणदश तथा हरदत्त नामक दो नृत्य तथा संगीत के शिक्षकों में प्रतिस्पर्धा चलती है और अन्त को राजा अग्निमित्र इनका फैसला करते हैं। इस प्रकार का वर्णन यह सिद्ध करता है प्राचीन भारत में कला का प्रचार आज कल से कहीं अधिक था।

महाकवि कालिदास ने उज्जयनी नगरी का जो वर्णन किया है, उससे स्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में प्रस्तरकला बहुत उच्च थी। मकानों के गुम्बज, बराण्डे, खिड़कियां, सड़कों तथा गलियों का वर्णन यह बात सिद्ध करता है कि आजकल के टानप्लानिंग योजनाओं के मानिन्द उस समय नगरनिर्माण किये जाते थे तथा सभी प्रकार की सुविधाओं का मकान बनाये जाने के समय ध्यान रखा जाता था।

विक्रमकाल में मूर्तिकला का भी पर्याप्त विकास हुआ। ईसा से १०० वर्ष पूर्व तथा १०० वर्ष बाद का विक्रमकाल कहा जाता है। इस काल की मूर्तियां उपलब्ध हुयी हैं। पश्चिमीघाट के आसपास घण्टशाला, माहीप्रोजू, गुन्टूपाले तथा सांची के पास जो जो स्तूप व मूर्तियां मिली हैं वे इसी समय की बतायी जाती हैं। इन मूर्तियों में कहींपर आर्य देवताओं तथा कहीं बौद्ध देवताओं का चित्रण किया हुआ है। किन्हीं स्थानों में इन मूर्तियों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर किया गया चित्रण मिलता है।

बौद्धकाल की मूर्तिकला बहुत प्रख्यात है। कुषानकाल तथा विक्रमकाल में भी मूर्तिकला व प्रस्तरकला के नमूने अभी भी कई स्थानों पर देखे जाते हैं। कन्हेरी, बम्बई की गुफाओं में भी विक्रम कालीन चित्रकला का आभाष मिलता है। यह चित्रकला बौद्ध देवी देवताओं की मूर्तियों का चित्रण करती हैं। संभव है कि ये भी विक्रम कालीन हों। इस सम्बन्ध में अभी अनुसंधान चालू है।

उपसंहार

सम्राट् वीर विक्रम की पवित्र स्मृति में आज भारत के कई स्थलों में उत्सव मनाये जा रहे हैं। २००० वर्ष बीत चुकने के बाद आज विक्रमकालीन उज्जैन नगरी बिलकुल परिवर्तित सी दीखती है। उज्जैन अथवा अवन्तिका का भौगोलिक स्थल वही है, प्राकृतिक दृश्य वैसे ही हैं; क्षिप्रा नदी भी उसी स्थलपर अबाधितरूप से बहती चली जा रही है। महाकालेश्वर का मन्दिर तथा भर्तृहरि की गुफायें केवल विक्रमकालीन राज्य की स्मृतिमात्र उज्जैन में शेष हैं अन्य मानवीय कृतियां, नगर, गलियाँ, सड़क, देवालय, राजमहल तथा गढ़ अनन्त में विलीन हो गये हैं !! वसन्तसेना के वैभवशाली आगार तथा कालिदासकृत उज्जैन नगर का मार्मिक व चित्ताकर्षक वर्णन अब केवल कवि कल्पना ही कहा जा सकता है !!!

विक्रमकालीन इतिहास अभीतक असम्बद्ध है। अतः इस की पूरी छानबीन की जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में ग्वालियर सरकार की ओर से एक ऐतिहासिक कमीशन नियुक्त किया जाना चाहिये तथा अनुसन्धान कार्य के लिये देश के भिन्न २ कोनोंसे विद्वानों को बुला-कर अनुसन्धान कार्य आरंभ होना आवश्यक है। ग्वालियर

सरकार की विक्रम यूनीवर्सिटी की स्थापना सम्बन्धी जो प्रस्ताव है, उसको शीघ्र ही क्रियात्मकरूप दिया जाना चाहिये।

विक्रमसम्बन्धी ऐतिहासिक छानबीन के लिये यह आवश्यक है उज्जयनी नगरी के आसपास जहां प्राचीन उज्जयनी के भग्नावशेष दीखते हों खुदायी की जाय और आर्कियोलाजिकल विभागद्वारा उस नगर का पता लगाया जाय जो अब पृथ्वी के गर्भ में समाया हुआ है। जिस प्रकार महेन्द्राजारो तथा हरप्पा के नगर निकल आये है संभव है कि इनसे भी बड़े ऐसे रमणीय प्राचीन अवन्तिका नगर का अब भी पता लग जावे।

भारत के प्रत्येक इतिहास क अनुशीलन करनेवाले विद्वान का फर्ज है कि वह विक्रमकालीन इतिहास की जांच के लिये अवश्य उज्जैन जावे और वहां की प्राचीन स्थिति के अध्ययन के निमित्त जांच खोज करे। अभीतक विक्रमकालीन ताम्रपत्र, शिलालेख, स्तूप तथा मुद्राओं का स्पष्टरूप से पता नहीं मिला है। इसलिये विद्वानों का फर्ज है कि वे ऐसे प्रमाणों की ओर अधिक ध्यान दें।

विक्रम की स्मृति को चिरस्थायी बनाये जाने के निमित्त स्थान २ पर विक्रम औषधालय, विक्रम वाचनालय तथा विक्रम पुस्तकालय खोलेजाने चाहिये। विक्रमकालीन साहित्य के प्रकाशन के निमित्त एक ऐसा स्थायीफंड होना चाहिये जो समय २ पर विद्वानों द्वारा लिखित विक्रमकालीन साहित्य का प्रकाशन करने में काम आ सके।

संपूर्ण भारतवर्ष का एक तिहाई हिस्सा अब भी रियासती राजाओं तथा महाराजाओं के अधिकार में है। भारतवर्ष के राजाओं तथा महाराजाओं का कर्तव्य है कि वे अपनी प्रजा का उसी तरह पालन करें जिस प्रकार

सम्राट् वीर विक्रम ने प्रजापालन किया। आधुनिक रियासती महाराजाओं का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे सम्राट् वीर विक्रम के पगचिन्हों पर चलकर प्रजा की सेवा का व्रत लें। यदि आज के भारतीय महाराजे विक्रम का अनुकरण करना शुरू करें तो सभी परिस्थितियों में जमीन आस्मान का फर्क मालूम होने लगे।

सम्राट् वीर विक्रम देशभक्त था, प्रजाभक्त था, अनाथों का नाथ तथा गरीबों का पिता था। हम चाहते हैं कि आज भी देश के कोनें कोनें में पराक्रमी वीरविक्रम भारतमाता की गोद में पैदा हों जो अटल और अविरलरूप से द्रढ़प्रतिज्ञ होकर मातृभूमि की सेवा तथा स्वदेश का उद्धार करें।

———